

UNIVERSAL
LIBRARY

OU₁180311

UNIVERSAL
LIBRARY

उपहार

लेखक

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

प्रकाशक

नेशनल प्रेस

इलाहाबाद

१९४२



Printed by
RAMZAN ALI SHAH
at the National Press, Allahabad.

मूल्य ८८८ रुपया

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ
१—उपहार	१
२—प्रलोभन	१४
३—ठण्डी राख	२१
४—जीत की हार	३३
५—महापुरुष	६२
६—व्रतभङ्ग	७४
७—क्षमा	९०
८—विश्वास	१०४
९—काली	११४
१०—लिफाफे की बात	१३२



उपहार

विमला खाना परोस रही थी। कमल बैठा पत्र लिख रहा था। वह सोचता था कि जब इसे समाप्त कर लूँगा, तब उठूँगा। देर ही क्या है, कुछ भी तो और अधिक नहीं लिखना है। बस, यही दो-तीन—हाँ, दो ही—पंक्तियाँ और लिखने को हैं कि फिर मैं हूँ और भोजन।

और विमला मन-ही-मन झुंझला रही थी कि जब तक मैं शाक पकाऊँ-पकाऊँ, तब तक तो आफत मचा दी। दो-दो मिनट में विकल हो-होकर पूछते रहे कि कितनी देर है—कितनी देर है! और अब, जब मैं खाना परोसने लगी, तो 'आया, आया, बस अभी हाल आया' कह रहे हैं—मगर आते नहीं! बस इनकी यही प्रकृति मुझे अच्छी नहीं लगती। कितनी तकलीफ़ होती है खाना पकाने में। बनाना पड़े, तो मालूम हो जाय। और मालूम क्या हो जाय, खुद भी तो न खा सकें उसे! फिर भी किसी तरह जो मर-खप के बना भी लूँ, तो यह हाल है इनका कि मुझे ही बेवकूफ़ बनना पड़ता है। कुछ कहो, तो भट जवाब दे बैठेंगे कि फिर बनाती ही बेकार हो—मैंने तो हजार बार कहा कि महराजिन रख लो। मैं भी बैठी रहूँगी, इसी तरह। जब बुलाना व्यर्थ है, तो बुलाया ही क्यों जाय? न, मैं अब नहीं बुलाऊँगी; नहीं, किसी तरह नहीं।

‘अरे सुनती हो?’

विमला को ही लक्ष्य करके कमल ने कहा था। लेकिन विमला ने सुनकर भी नहीं सुना। उसने कोई उत्तर नहीं दिया। वह क्यों

उत्तर दे ? किसको उत्तर दे ? किसे उसके उत्तर की अपेक्षा है ? जब कहते-कहते हार गई, तब नहीं आये । और अब इतनी देर के बाद भी, वहीं से कहते हैं—सुनती हो ? कौन सुनती है ? कोई नहीं सुनती ! क्यों सुने कोई ? क्या पड़ा है उसे, जो सुने ? वह नहीं सुनती है । कोई नहीं सुन रहा है । कोई सुनने क्यों लगा ? वह सुनती तो है, मगर नहीं सुनती । --हाँ, नहीं सुनती ।

कमल अब उठकर उसके पास चला आया । वह चला तो आया, पर निकट खड़ा रहकर बोला—कुछ लोग आ गये हैं और उनसे इसी समय दो बातें कर लेनी हैं । बेचारे बड़ी दूर से आये हैं । मुझसे यह नहीं हो सकता कि उन्हें वैरंग वापस लौटा दूँ । कुछ वक्त देना ही पड़ेगा । कुछ ऐसी ही आवश्यकता है । समझती हो न ? तुम अब खाना खालो । मुझे शायद देर ही लग जाय । ... शायद क्या, बल्कि निश्चित है देर लग जाना ।

विमला ने पहले तो चाहा कि वह चुप ही रहे अब भी. उनकी इस बात का कोई उत्तर न दे । किन्तु वह वास्तव में इस प्रकार की नारी नहीं है । परिस्थिति और कारण को लेकर मर्यादा की अवमानना करना उसकी प्रकृति के प्रतिकूल है । वह अतीत से उलझती रहती है, क्योंकि उसी का प्रभाव लेकर भविष्य को देखती है; किन्तु वर्तमान की अपेक्षा उसे स्वाकार नहीं होती । अतएव उसने कहा—किन्तु क्या दस-पाँच मिनट के लिए उन्हें रोक नहीं सकते ? वे लोग क्या तुम्हारा इस समय भोजन करना भी रोक देना उचित समझेंगे ? तुम्हारी असुविधा का क्या उन्हें कुछ भी खयाल न होगा ?

कमल ने लक्ष किया, विमला खुद भी भूखी है । समय भी अधिक हो गया । इसी स्थिति में उसने भोजन बनाया है । कितनी

देर से वह प्रतीक्षा में बैठी है और अब, जब कि मुझे उसके साथ बैठकर खाना चाहिये, मैं उससे इस प्रकार का प्रस्ताव कर रहा हूँ !

उसने एक बार फिर जो विमला के उत्तम अरुण मुख की ओर ध्यान से देखा तो उसे अपना प्रस्ताव सर्वथा अप्रातिकर प्रतीत हुआ। वह लौट पड़ा। लौटते हुए कह गया—अच्छा, तो मैं अभी आया। उन्हें कमरे में आदर के साथ बिठा आऊँ और साथ ही दस मिनट तक और अधिक प्रतीक्षा करने की अनुमति ले आऊँ।

‘ओह ! तुम आये हो—मेरे राधाकान्त बाबू—यह डेपूटेशन लेकर ? अच्छा ! लेकिन, यार बहुत दिनों में मिले हो, और फिर इस डेपूटेशन के साथ ! खैर, मैं अभी आया। मैंने अभी तक भोजन नहीं किया है। कुछ इतने आवश्यक कार्यों में लगा रहा कि भोजन करने तक को समय पर न उठ सका। जा ही रहा था कि पता चला, आप लोग तशरीफ लाये हैं।’ कमल ने स्वाभाविक उल्लास-मुखरित ढंग से कहा।

‘अच्छा तो है। कर आओ भोजन; लेकिन अकेले-ही-अकेले भोजन कर लोगे ?’ राधा बाबू ने हास के मृदुल दोलन में, साधारणतया कह दिया—उसी प्रकार, जैसे कोई भी मित्र दूसरे से ऐसी स्थिति में प्रायः कह ही देता है।

‘अच्छी बात है, मेरा सौभाग्य ! चलो, तुम भी चलो।’ कमल के उत्तर के साथ उसका हार्दिक उल्लास भी मिश्रित होकर फूट निकला।

‘ऐसे नहीं जाता। इस तरह तुमको तो कुछ मालूम न होगा, किन्तु दूसरी आत्मा को जो आकस्मिक कष्ट होगा, उसे मैं कैसे

सहन करूँगा ? न यार कमलेश, मुझे इस समय भोजन नहीं करना है, मैं तो यों ही कह उठा था। मैं भोजन कर चुका हूँ।' राधा बाबू कहते-कहते गम्भीर हो उठे।

कमल ने लक्ष किया, यह राधाकान्त एक समय कितना चटुल था ? क्लासभर इसके मारे परेशान, बल्कि एक प्रकार से आन्दोलित रहता था। और आज देखता हूँ कि इस कालान्तर में ही वह कैसा विवेकशील बन गया है।

तब उस राधाकान्त के प्रति कमल पहले अजेय आदरभाव से देखकर रह गया, फिर कुछ सोच-समझकर बोला—नहीं राधे, असुविधा की कोई बात न होगी। कम पड़ेगा तो कुछ और बाज़ार से मँगवा लूँगा। चलो, चलो; अब तुम्हें चलना पड़ेगा।

×

×

×

‘मेरे एक मित्र भी खायेंगे विमला ! बड़े ज़बरदस्त आदमी हैं। इच्छामात्र करने से सफलता इनके चरण चूमती रही है। मुझे इनका क्लासफेलो रहने का गौरव प्राप्त हो चुका है। मुझे पता ही न था कि जेल जा-जाकर भी यह शैतान बजाय दुर्बल पड़ने के इतना मोटा पड़ जायगा। देखती क्या हो, वज़न में तीन मन से कम न होगा। यह जो कुछ भी तुमने बना रखा है, मैं तो समझता हूँ, केवल इसके लिए भी काफी न होगा।' कमल ढूँढ़-ढूँढ़कर ऐसे शब्दों का प्रयोग कर रहा है, जिससे विमला को पता चल जाय कि उसका यह मित्र ऐसा-वैसा साधारण व्यक्ति नहीं है। बड़ा आदमी तो वह है ही, साथ ही उसका घनिष्ठ मित्र भी है।

तब विमला ने स्वामी के इस घनिष्ठ मित्र को केवल एक दृष्टि से देखकर सारी को सिर पर, आगे तक, कुछ और अधिक खिसका लिया। दो थालियों में भोजन जैसा परोसकर रखा था, उसे

पूर्ववत् न रखकर उसमें थोड़ा-थोड़ा कम कर लिया है, क्योंकि आकस्मिक आतिथ्य और समय-असमय के जलपान के लिए जो मिष्ठ और सलोने खाद्य पदार्थ उसने बना रखे हैं, उनका भी उपयोग उसे अब करना है। बाज़ार से ही कुछ मँगाना पड़ा, तो फिर गृहस्थी की मर्यादा ही क्या रही ?

तुरन्त उसने कहा—आइये ।

तब कमल अपने राधे को लेकर भोजन करने बैठ गया। वह भोजन कर रहा है और साथ-ही-साथ कुछ सोचता भी जाता है। यों निरन्तर उसे कुछ-न-कुछ सोचना ही पड़ता है। बात कम, काम अधिक—यही उसकी प्रकृति है। किन्तु जब कोई मित्र आया हो और साथ में बैठा भोजन कर रहा हो, तब भी मौन ही बने रहना तो कुछ अधिक उत्तम या आवश्यक, प्रतिकर या शोभन, प्रतीत नहीं होता। मानो इसी बात को लक्ष्कर कमल ने कह दिया—और कहे राधे, खूब अच्छी तरह से हो न ? किसी प्रकार की कोई असुविधा या कष्ट या .. और क्या कहूँ ?

अन्तिम शब्द कहते-कहते कमल राधे के मुँह की ओर देखकर हँस पड़ा।

‘देखता हूँ, तुम बहुत बड़े आदमी हो गये। यहाँ तक कि तुमने इतना वैभव अर्जित कर लिया, इतना कि तुम्हें देखकर मुझे ईर्ष्या होती है, तो भी तुम्हारा वह असाधारण सारल्य ज्यों-का-त्यों बना है !’ राधे भोजन करते हुए अपनी ये बातें इतने मन्द क्रम से करता जाता है कि न तो उसकी आहार-गति प्रतिहत होने पाती है, न वार्ताविनोद में ही किसी प्रकार की अरोचक गति का संयोग हो पाता है। साथ-ही-साथ वह कभी-कभी विमला पर भी एक दृष्टि डाल देता है।

‘तो तुम्हारा खयाल यह है कि काल-गति से हमारी प्रकृति भी बदल जाती है ! लेकिन भाई राधे; मैं ऐसा नहीं मानता । जीवन के प्रकम्पित अवधान हमारी गति बदल सकते हैं, हमारे आचार-व्यवहार की रूप-रेखा को भी उलट-पुलट डालते हैं । मैं यह मानता हूँ । किन्तु...किन्तु हमारी नैसर्गिक प्रकृति पर उनका अनुशासन कभी चल नहीं सकता, क्षणिक परिवर्तन करने में भले ही वे यदा-कदा सफल होते रहें ।’

राधे कमल की इस बात को सुनकर मुसकराने लगा ।

और कमल ने उसके इस हास की यथार्थता को लक्ष्य करके कहा—जान पड़ता है, मेरे साथ तुम्हारा मतभेद पूर्ववत् बना है ।

विमला दोनों को बातें करती छोड़कर भण्डार में चली गई थी । आकर उसने दो-दो कटोरियों में कुछ मिष्ठान्न और नमकीन पदार्थ दोनों थालियों के निकट रख दिये । तब उसी समय एक कटोरी से कुछ खुरमे एक साथ उठाकर मुँह में डालने के पूर्व राधे बोला—तुम्हारे गार्हस्थ्य-जीवन के इस सफल स्वरूप के लिए मैं तुम्हें बधाई देता हूँ कमलेश !

कमल हँसने लगा । बोला—अच्छा-अच्छा, यह बात है ! धन्य-वाद । फिर विमला की ओर उत्फुल्ल लोचनों से देखकर कहने लगा—सुनती हो विमला, राधे तुम्हें बधाई दे रहा है ।

विमला चाहती तो उत्तर में कुछ कह सकती थी । किन्तु वह कुछ कह न सकी । हाँ, विकल्प में थोड़ी मुड़कर, कढ़ाई में रखे हुए शाक को एक कटोरे में सम्हालकर रखने में लीन अवश्य हो गई ।

तब राधे ने उस समय न तो उस विमला को ही कुछ कहने का अवसर दिया, न कमलेश को । अब वह उसकी उस बात पर आ

गया, जिस पर उसे मतभेद था। वह बोला—हाँ, तुम्हारी उस बात को तो मैं भूल ही गया था, प्रकृति-परिवर्तन के सम्बन्ध में जो तुमने अभी कही थी।

‘हाँ-हाँ, कहो-कहो। मैं जानना चाहता हूँ, इस विषय में तुमने क्या अनुभव किया है, तुम्हारे विचार क्या हैं?’ कमल ने कहा ही था कि राधे बोल उठा—असल बात यह है कमलेश भाई, कि मनुष्य की प्रकृति ही को पहले ज़रा समझ लेने की ज़रूरत है। क्या उसकी प्रकृति है, और क्या अप्रकृति, वास्तव में इसी का समझ लेना आवश्यक है। लोग प्रायः कहा करते हैं—कलाँ आदमी तो बिल्कुल ही बदल गया। लोग उसकी रूप-रेखा, उसके आकार-प्रकार को देखकर ही प्रायः इस तरह की बातें कह डालते हैं। पर परिस्थितियों के चक्र में घूमते और छिन्न-भिन्न होते हुए उसके क्षण-क्षण के जीवन को देखकर वे यह नहीं सोचते कि प्रकाश सदा प्रकाश ही रहता है। यह बात दूसरी है कि कोई प्रकाश दिन का हो, कोई निशा का। अब यहाँ प्रश्न यह है कि दिन का प्रकाश तो प्रकाश है और उसे संसार स्वीकार करता है। किन्तु जो प्रकाश रजनी के अन्तर से फूटा हुआ है, वह अन्धकार क्यों है?

तब तत्काल उत्तरंग मानस से कमलेश बोल उठा—वन्दरफुल ! कितनी अच्छी बात तुमने अनायास कह डाली ! वाह !!

विमला ने उसी समय एक बार राधे के उस तेजोमय मुख की ओर दृष्टि-क्षेप किया। थोड़ी देर से उसकी छाती के भीतर भूकम्प-कालीन रत्नाकर की भाँति जो भीम विस्फूर्जन प्रतिध्वनित हो रहा था, राधे के इस कथन को लेकर और फिर एक बार उसकी ओर देखकर आप-से-आप वह बिल्कुल शिथिल-ध्वस्त हो उठा। जिस व्यक्त अतीत ने आज अभी उसके मन-प्राण तक को बार-बार

स्तम्भित, विकल-विकम्पित कर-करके एक अव्यक्त अभियोग से अतिशय, अस्थिर किंवा विमूढ़ कर डाला था, निमेषमात्र के इस वैकल्पिक उपायन से उसके पराभूत चित्त की सारी दुर्बलता बात-की-बात में निष्प्रभ प्रशान्त हो उठी।

इसी समय भोजन करके दोनों मित्र उठ खड़े हुए।

×

×

×

रात के ग्यारह बजे हैं। कमलेश सो रहा है। पास ही विमला भी लेटी हुई करवटें बदल रही है। कुछ स्वप्न उसके मानस-पट पर उतर आये हैं।

‘तुम्हारी यह आदत अच्छी नहीं है, भैया !’

‘कौन-सी ?’

‘पूछते हो कौन-सी !’

‘लो, जब मालूम नहीं है, तब पूछना भी गुनाह है !’

‘हाँ, गुनाह है। मैं तुमसे भैया जी कहती हूँ।’

वह चुप रह गया। उसका मुख यकायक उतर गया। कोई बात वह फिर न कह सका। तब वह चलने लगी। कुछ उद्विग्न होकर अपना ही तिरस्कार अपने ऊपर लादकर। किन्तु उसी समय उसने सुना, वह कह रहा है—मेरी इस बुरी आदत के अनुभव करने का तुम्हें अब कभी अवसर न मिलेगा, विमला। मैं यहाँ से चला जाऊँगा।

वह लौट पड़ी। अपनी मर्यादित गम्भीरता से विचलित होकर वह बोली—सचमुच, क्या तुम कानपुर छोड़ दोगे ?

‘छोड़ना ही पड़ेगा विमला ; क्योंकि मनुष्य की प्रकृति बदल नहीं सकती।’ उत्तर में वह कुछ कह न सकी थी। यद्यपि उन

निर्वाक, निस्पन्द, निष्ठुर क्षणों ने उसके इस जीवन को ही व्यर्थ कर डाला, तो भी उन क्षणों को वह फिर कभी न पा सकी। आज तक न पा सकी।

किन्तु वह था कितना दृढ़प्रतिज्ञ ! उसने कानपुर छोड़ ही दिया। यद्यपि उसने कोई अपराध नहीं किया था। एकमात्र यही आदत थी उसकी कि वह मुझे देखकर पुलकित हो उठता था। उसके उस हासमुखरित आनन की उद्दीप्त आभा, उसकी उल्लास-दृप्त आँखें, अपने आन्तरिक भाव प्रकट करने का लोभ संवरण न कर सकती थीं। मुहल्ले की बात ठहरी। वह कभी अपनी सखियों के साथ निकलती, कभी मा-भाभी के साथ। और इन सबके साथ निकलने पर भी वह उसकी ओर एक बार देखे बिना मानता न था। फलतः एक अदम्य बहिरभिमुखी लज्जा से वह बिलकुल संकुचित तथा अभिभूत हो उठती थी।

बस, यही उसका अपराध था—और उससे संलग्न यही उसकी असुविधा !

और उसके बाद यह आज का दिन है।

‘तुम्हारे गार्हस्थ्य जीवन के इस सफल स्वरूप के लिए मैं तुम्हें बधाई देता हूँ।’ और मेरे गार्हस्थ्य जीवन का यह कैसा सफल स्वरूप है ? किन्तु जो प्रकाश रजनी के अन्तर से फूटा हुआ है, वह अन्धकार क्यों है ? कौन कहता है कि वह अन्धकार है ! क्या अब भी किसी में इतना साहस है कि वह उसे अन्धकार कह सके ? किन्तु यह बात तो तुमने अपने आपको देखकर कह डाली है ; क्योंकि तुम एक प्रकार के अकल्पित स्वप्न हो। किन्तु यह तो एक कविता हुई। और इस विमला के भीतर जो नारी है, वह तो वैसी उस प्रकार की निरी कविता नहीं है, उसका एक

शरीर है, एक हृत्पिण्ड। कभी उसे छूकर देखते, तो जान पाते कि बाहर से प्रकाशमयी झलक मारनेवाली इस विमला के भीतर का अन्धकार अभी तक पूर्ववत् स्थिर है। अपने स्थान से वह टस-से-मस भी नहीं हुआ है। अभी तक उसके भीतर की गर्वित नारी उसी प्रकार तृपित है, जैसी वह कभी पहले थी। उसके प्रकृत स्वरूप का मांगोपांग अर्थ किया ही नहीं जा सका—यहाँ तक कि वह अभी तक मा भी नहीं हो सकी ! और फिर भी तुम उसके गार्हस्थ्य जीवन का साफल्य देखने चले हो ! ओह ! इस परिवार का अन्तरंग न देखकर उसके बाह्य स्वरूप पर तुम ऐसे मुग्ध हो उठे कि एक बधाई भी मुझे दे डाली। किन्तु तुम्हारी यह बधाई तो उन्हीं के लिए थी। मेरे साथ उसका सम्बन्ध क्या ? न, यह बधाई मेरे लिए नहीं है, नहीं है।

किन्तु ठीक तो है। उन्होंने कह डाला था—सुनती हों विमला, राधे तुम्हें बधाई दे रहा है।

लेकिन उनके कहने से भी वह बधाई मेरे लिए नहीं हो सकती। वह तो उनके लिए थी, हाँ उन्हीं के लिए। तो क्या वास्तव में वे बधाई के पात्र हैं ? क्यों भला ? क्या वे बधाई के पात्र केवल इसलिए हैं कि मेरे जीवन की यह धारा भी उन्हीं के साथ-साथ प्रवाहित हो रही है। तो तुम सोचते हो कि यह विमला अभी तक इसमें समर्थ है कि उसके संगति का योगसात्र किसी को भी बधाई का पात्र बना सकता है ! उफ, तुम ऐसा क्यों मानते हो राधे भैया ? क्या तुम अपनी प्रतिज्ञा भूल गये ? क्या तुम्हें याद नहीं रहा कि तुमने किसी को कुछ कहा था ? कहा था कि मेरी इस बुरी आदत के अनुभव करने का अब तुम्हें कभी अवसर न मिलेगा !...तो फिर इतने दिनों के बाद तुमने यह अवसर क्यों दिया ?

भर, भर, भर !

ये आँसुओं के बूँद हैं कि सुधारणव के मोती !

ओह ! जीवन के ये दस वर्ष योंही बीत गये । युग पलटा, कितने भूकम्प आये । कितनी रिम-रिम रातें, कितनी शारदी निशाएँ, कितने वासन्तिक दोलन आये और गये; किन्तु राधे की छाया भी कहीं न देख पड़ी । और एक युग के बाद, जान-बूझकर भी नहीं, अनायास वे जो इस कुटीर में आ ही पड़े, तो यह विमला, यह मूर्त कालिमा अपने आपको न देखकर दोष देती है उसे, जो दिवाकर की भाँति वरेण्य और मनस्वी है !

—तो तुम मुझसे बोले क्यों नहीं ? कुछ विस्मय और कुछ दुलार से आत-प्रोत होकर तुमने मुझे निकट पाकर, मेरा नाम लेकर पुकारा क्यों नहीं ? तुम्हारी मुद्रा इतनी गम्भीर क्यों बनी रही ? एक बार भी सिर उठाकर तुमने मुझे ध्यान से देखा क्यों नहीं ? हूँ, मुझसे छूटकर जाओगे कहाँ ?

भर, भर, भर !

ये अमृत के बूँद क्रमागत रूप से क्यों आ रहे हैं ? भरने से बूँद तो यों निरन्तर आ सकते हैं; किन्तु इस प्रकार के अमृत-बूँदों को वह कहाँ से लायेगा ? और उनके निस्त्राव के साथ यह निस्वन कैसा है ! ये रुदन की सिसकियाँ हैं कि निर्भर की उत्ताल उमि-मालाओं का अजस्र मुखरित महोल्लास ।

×

×

×

‘ऐं ! तुम रोती हो विमला ?’

एकाएक उठकर भट से विद्युत्-प्रकाश प्रस्फुटितकर कमल विमला के पलंग पर आकर उससे मिश्रित होकर बैठ गया । फिर उसके सिर की कुन्तल-राशि, वेणी और उसके अन्तिम छोट तक अपना वाम हस्त फेरते हुए बोला—रोती क्यों हो विमला

शरीर है, एक हृत्पिंड। कभी उसे छूकर देखते, तो जान पाते कि बाहर से प्रकाशमयी झलक मारनेवाली इस विमला के भीतर का अन्धकार अभी तक पूर्ववत् स्थिर है। अपने स्थान से वह टस-से-मस भी नहीं हुआ है। अभी तक उसके भीतर की गर्वित नारी उसी प्रकार तृपित है, जैसी वह कभी पहले थी। उसके प्रकृत स्वरूप का सांगोपांग अर्थ किया ही नहीं जा सका—यहाँ तक कि वह अभी तक मा भी नहीं हो सकी ! और फिर भी तुम उसके गार्हस्थ्य जीवन का साफल्य देखने चले हो ! ओह ! इस परिवार का अन्तरंग न देखकर उसके बाह्य स्वरूप पर तुम ऐसे मुग्ध हो उठे कि एक बधाई भी मुझे दे डाली। किन्तु तुम्हारी यह बधाई तो उन्हीं के लिए थी। मेरे साथ उसका सम्बन्ध क्या ? न, यह बधाई मेरे लिए नहीं है, नहीं है।

किन्तु ठीक तो है। उन्होंने कह डाला था—सुनती हों विमला, राधे तुम्हें बधाई दे रहा है।

लेकिन उनके कहने से भी वह बधाई मेरे लिए नहीं हो सकती। वह तो उनके लिए थी, हाँ उन्हीं के लिए। तो क्या वास्तव में वे बधाई के पात्र हैं ? क्यों भला ? क्या वे बधाई के पात्र केवल इसलिए हैं कि मेरे जीवन की यह धारा भी उन्हीं के साथ-साथ प्रवाहित हो रही है। तो तुम सोचने हो कि यह विमला अभी तक इसमें समर्थ है कि उसके संगति का योगसात्र किसी को भी बधाई का पात्र बना सकता है ! उफ, तुम ऐसा क्यों मानते हो राधे भैया ? क्या तुम अपनी प्रतिज्ञा भूल गये ? क्या तुम्हें याद नहीं रहा कि तुमने किसी को कुछ कहा था ? कहा था कि मेरी इस बुरी आदत के अनुभव करने का अब तुम्हें कभी अवसर न मिलेगा !...तो फिर इतने दिनों के बाद तुमने यह अवसर क्यों दिया ?

भर, भर, भर !

ये आँसुओं के बूँद हैं कि सुधारणव के मोती !

ओह ! जीवन के ये दस वर्ष योंही बीत गये । युग पलटा, कितने भूकम्प आये । कितनी रिम-रिम रातें, कितनी शारदी निशाएँ, कितने वासन्तिक दोलन आये और गये; किन्तु राधे की छाया भी कहीं न देख पड़ी । और एक युग के बाद, जान-बूझकर भी नहीं, अनायास वे जो इस कुटीर में आ ही पड़े, तो यह विमला, यह मूर्त कालिमा अपने आपको न देखकर दोष देती है उसे, जो दिवाकर की भाँति वरेण्य और मनस्वी है !

—तो तुम मुझसे बोले क्यों नहीं ? कुछ विस्मय और कुछ दुलार से आत-प्रोत होकर तुमने मुझे निकट पाकर, मेरा नाम लेकर पुकारा क्यों नहीं ? तुम्हारी मुद्रा इतनी गम्भीर क्यों बनी रही ? एक बार भी सिर उठाकर तुमने मुझे ध्यान से देखा क्यों नहीं ? हूँ, मुझसे छूटकर जाओगे कहाँ ?

भर, भर, भर !

ये अमृत के बूँद क्रमागत रूप से क्यों आ रहे हैं ? भरने से बूँद तो यों निरन्तर आ सकते हैं; किन्तु इस प्रकार के अमृत-बूँदों को वह कहाँ से लायेगा ? और उनके निस्त्राव के साथ यह निस्वन कैसा है ! ये रुदन की सिसकियाँ हैं कि निर्भर की उत्ताल उमिमालाओं का अजस्र मुखरित महोल्लास ।

×

×

×

‘ऐं ! तुम रोती हो विमला ?’

एकाएक उठकर झट से विद्युत्-प्रकाश प्रस्फुटितकर कमल विमला के पलंग पर आकर उससे मिश्रित होकर बैठ गया । फिर उसके सिर की कुन्तल-राशि, वेणी और उसके अन्तिम छोर तक अपना वाम हस्त फेरते हुए बोला—रोती क्यों हो विमला ?

बताओ। मैं जानना चाहता हूँ, क्या मुझसे कोई अपराध हुआ है ?

अब विमला आँसू पोंछकर, स्थिर होकर, बैठ गई। उसका एक हाथ अब भी कमल के हाथों में था। उसके रुद्रगम्भीर मुख की अप्रकृत भंगिमा देखकर कमल एकाएक स्तब्ध हो उठा। उसी समय विमला बोली—अपराध ..अपराध की बात पूछते हो ?

‘हाँ।’

‘तो तुम इस राधे को अन्दर क्यों ले आये ? किससे पूछकर ले आये ?’

कमलेश अवाक् हो उठा। तुरन्त तो वह कोई उत्तर न दे सका। किन्तु क्षण-भर के बाद बोला—वह मेरा एक मित्र था, चिरपरिचित मित्र। उसका स्वागत-सत्कार करना मेरे लिए आवश्यक था...किन्तु वह कोई भी हो, उसके सम्बन्ध में इतना सोचने की आवश्यकता ही क्या है ?

‘वह क्यों आया था ?’

‘एक प्रस्ताव लेकर।’

‘क्या उत्तर दिया ?’

‘उसकी बात मान लेना ही मैंने उचित समझा। स्वदेश के पीछे उसने अपना जीवन उत्सर्ग कर रखा है। उसे निर्विरोध कौंसिल में जाना चाहिये। उसके पक्ष में मैंने अपने आपको रोक लिया है।’

‘जी—व—न—उ—त्स—र्ग कर—र—खा हैं !’—विमला ने अतिशय मन्द स्वर में अटक-अटककर इस तरह कहा कि कमल उसकी अपरूप मुद्रा को देखकर चकित-स्तम्भित हो उठा। क्षण-भर रुककर बोला—बात क्या है विमला ? मैं ज़रा साफ़-साफ़ जानना चाहता हूँ।

‘वह मेरा शत्रु है। मेरी जीवन-धारा को उसने व्यर्थ ही में विकृत करने की चेष्टा की है। मुहल्ले के नाते से मैं उसकी बहन होती हूँ। फिर भी जान-बूझकर उसने मेरी अवहेलना की। मैं इसे कैसे सहन कर सकती हूँ?’

×

×

×

‘अरी पगली—यह मेरी ही भूल है! लेकिन तुम जानती हो विमला, मैं कुछ आज का भुलक्कड़ नहीं हूँ...खैर, मुझे इसका दुःख है। चलते-चलाते वह अपनी सोने की घड़ी तुम्हें भेंट-स्वरूप दे गया है। उसने कहा भी था—यह घड़ी मेरी बहन को दे देना। तुम उसे ले लो अभी। वह मेरे कोट के भीतरी जेब में पड़ी है।’

और विमला सोचती है—यह उपहार है कि मृत्यु!



प्रलोभन

१

वह कभी बेकार नहीं बैठता था। उसकी दूकान सबरं सात बजे खुल जाती और रात में भी नौ बजे तक खुली रहती। दूकान ही पर बैठे हुए वह घर की व्यवस्था भी कर लेता था। उसके परिवार में उसकी वृद्धा पत्नी के अतिरिक्त एक छोटी लड़की उसकी नातिन ही थी।

वह लोहे की चीजें बनाया करता था। चाकू और सरौते बनाने में वह विशेष कुशल था। इसके लिये दूर-दूर तक उसका यश भी फैला हुआ था। परन्तु वह जहाँ तक हो सकता, लोहे की किसी भी चीज के बनाने से कभी इनकार नहीं करता था। यद्यपि वह गाँव में रहता था, तथापि कभी-कभी शहर के लोग भी इन चीजों के लिए उसके यहाँ आ जाते थे।

उसकी अवस्था अब पैंसठ वर्ष के ऊपर हो गई थी। उसके मुख की त्वचा कहीं-कहीं इतनी ढीली हो गई थी कि लटकने लगी थी। उसकी नासिका कुछ अधिक फैलकर चौड़ी हो गई थी। उसकी आँखों की ज्योति मन्द पड़ गई थी, इसलिए एक पुराने ढँग का चश्मा उसकी आँखों पर सदा चढ़ा रहता था। उसके लेंस खूब मोटे और कमानियाँ पीतल की थीं। कमानी का जो भाग कान पर चढ़ता और कनपटी से लिपटा रहता था, यंत्र-तंत्र पसीने के सयोग से हरा हो रहा था।

उसका नाम गंगू था।

सरदी के दिन थे और उस दिन कुछ बदली भी थी। सबेरे के नौ बजने का समय रहा होगा। पुनिया उसके पास आ पहुँची। उसके सिर के बाल बिखरे हुए थे, नाक में सोने की एक छोटी नथुनी भी वह पहने हुए थी। अपनी चंचल प्रकृति के अनुसार ज़मीन पर पैर पटकती हुई आकर वह गंगू के निकट बोली—नाना, बड़ी अम्मा कहती हैं, आज तो बाजरे के पुवे बनाने का दिन है। और घर में तेल थोड़ा-सा ही है।

यह पुनिया गंगू की नातिन है। जब यह माँ के उदर में ही थी, तभी इसका पिता रेल से कटकर मर गया था। फिर जब यह पैदा हुई, तब तीन वर्ष के बाद इसकी माँ भी प्लेग में चल बसी थी। इसका पालन-पोषण इसकी नानी ने ही किया। प्रारम्भ से ही यह अपनी नानी को 'बड़ी अम्मा' कहती आ रही है।

गंगू उस समय एक अस्तुरा बना रहा था। उसे तुरन्त बनवाने के लिए एक नाई भी उसके पास बैठा हुआ था। अस्तुरा करीब-करीब बन चुका था। केवल उस पर शान रखने भर की देर थी।

गंगू चाहता तो पैसे उस नाई से दिला सकता था। पर उसके ग्राहक का काम अभी पूरा नहीं हुआ था और बिना उसका काम पूरा किये वह उससे पैसे माँगना नहीं चाहता था।

गंगू बोला—ज़रा ठहरना पड़ेगा बिट्टी। अभी पैसे नहीं हैं।

पुनिया लौट गई। नानी से उसने जाकर कह दिया—पैसे नहीं हैं अभी। नाना ने कहा है, ज़रा देर में मिलेंगे।

“वह तो मैं पहले से ही जानती थी” कहती हुई बुढ़िया बड़-बड़ाने लगी। जब कभी मैं अपनी ओर से कोई चीज़ खाने या बनाने की बात कहती हूँ तब मुझे इसी तरह का उत्तर मिलता है।

आज यह नई बात थोड़े ही है।...अच्छी बात है। तू भी बैठी रह पुनिया, आज कुछ भी खाना बनाने की जरूरत नहीं है। इस तरह दो-चार बार मैं जी भरकर भगड़ा कर लेना चाहती हूँ। फिर देखता हूँ, कैसे नहीं इनकी यह आदत छूटती है।

“लेकिन बड़ी अम्मा”, पुनिया बोली—“तुम तो भूखी रह जाओगी, पर मुझसे तो नहीं रहा जायगा। मैं क्या खाऊँगी? कुछ चना-चबेना भी तो आज नहीं है। जाती हूँ, रोटी बनाने। पुवे शाम को बनाऊँगी।”

“क्यों नहीं—क्यों नहीं? तू भी राँड़ उन्हीं के मन की करेगी। अच्छा-अच्छा, देखती हूँ। तू कैसे रोटी बनाती है! उसी दम—उसी दम मैं तुझे भाड़ू मारकर घर से निकाल दूँगी। शैतान की आँत - मेरा कहना नहीं मानती! जैसे तेरी माँ मर गई, वैसे ही तू भी मर जाती तो मुझे चैन मिलता! हरामखोर कहीं की!”

पुनिया अपनी नानी के स्वभाव से परिचित न हो, सो बात नहीं थी। परन्तु वह अब निरी छोकरी तो नहीं है। वह दस-ग्यारह बरस की हो गई है। बहुत कुछ समझने लगी है। पड़ोसिन जिन्हें वह मामी कहती है, उससे कहा करती हैं कि उसका बाप रेल में नौकर था। कहने को वह खलासी था; पर उसकी तनखाह ग्यारह रुपया थी। धोखे से वह रेल से कटकर मरा था। इसके लिए उसकी मा को पाँच-सौ रुपये भी परवरिश के लिए मिले थे। तिस पर भी उसकी यह नानी उसे हरामखोर कहती है। वह इतनी नादान नहीं है, जो इन बातों को समझती न हो। उसके माता-पिता बने होते तो वह क्यों इतनी दुखी होती। अब तक तो उसकी सगाई भी हो गई होती।

पुनिया मन-ही-मन सोच रही थी—“और कोई बात होती तो दूसरी बात थी, पर नानी ने उससे कहा है—मैं तुझे भाड़ू मार-

कर निकाल दूँगी। तू मर जाती तो मुझे चैन मिलता। तू हरामखोर है।”

वह एक ओर उदास होकर बैठ रही। उसकी आँखों में आँसु छलछला आये।

२

विचार धारार्ये अपना-अपना काम कर रही थीं।

बुढ़िया धूप में जाकर बैठ रही। उसने निश्चय कर लिया कि वह आज खाना नहीं बनायेगी। देखें आज बुढ़ऊ क्या खाये लेते हैं। कुछ उसी को भूख थोड़े ही सताती है। आखिर भूख उनको भी तो लगती है। फसल की नयी चीजें क्या उसी को बहुत स्वादिष्ट लगती हैं? क्या उनकी कभी तबियत ही नहीं चलती; वे चीजें उन्हें सुहानी नहीं हैं, उन्हें पसन्द नहीं आती हैं, तो बार-बार माँग-माँगकर क्यों खाते हैं—खाते-खाते और दिन से सवाया कैसे खा जाते हैं। बात बस इतनी ही है कि जब कभी मैं कुछ कह डालती हूँ तभी उसका प्रबन्ध नहीं होता।...आज उनकी भी तबियत ठीक हो जायगी। भूख से जब आँते कुलबुलाने लगेंगी तब अपने आप दौड़े आयेंगे। सोचेंगे, रोटी तैयार मिलेगी। पर जब यहाँ कहीं कुछ भी भोजन का रङ्ग-ढङ्ग न पायेंगे तब अपने आप होश ठिकाने आ जायेंगे। अगर मुझसे कुछ पूछेंगे तो पहले तो मैं अनसुनी कर जाऊँगी। फिर जब मेरी ज़बान खुलेगी तब उन्हें आटा-दाल का भाव मालूम हो जायगा।

उधर गंगू सोच रहा था—उसका अब चलाचली का समय आ लगा है तो क्या हुआ? अपने काम में वह किसी तरह की कोर-कसर क्यों रक्खे? मर जाने पर यही सब रह ही जाता है। और न होगा, इतना तो लोग याद रक्खेंगे कि कोई गंगू लुहार
८०—२

था। वह जो काम हाथ में लेता था उसे मेहनत और ईमानदारी से पूरा करता !...पचासों वर्षों तक लोग याद रखेंगे, यह चीज गंगू की बनाई हुई है।

नाई मन-ही-मन कह रहा था—बुढ़ऊ में अर्जाब सनक है। अस्तुरा बिलकुल साफ बन गया है, फिर भी उसे रेंते ही डालते हैं—रेंते ही डालते हैं।

गंगू अस्तुरे पर शान रखना जाता है। नाई शान के पत्थर का चक्का घुमाये जा रहा है। उसमें कभी घर-घर और कभी सर-सर का स्वर बराबर निकल रहा है। कभी-कभी उससे चिनगारियाँ भी फूट निकलती हैं। चमड़े की बट्टी के साथ-साथ नाई का कभी दायों हाथ शान के पत्थर के नीचे तक, उसकी बगल में जाता है, कभी बायाँ। गंगू सोचता जाता है—अभी थोड़ी कसर है। ज़रा-सा और ठीक कर दूँ तो एकदम लकड़क हो जायगा। जब पैस लेता हूँ तब काम भी ऐसा करके देना चाहिये कि उसकी एक निशानी रह जाय। वैसे मैं चाहता तो अब से पहले ही दे सकता था। पैस भी मिल जाते और अपने काम आते।...बुढ़िया अलग बड़बड़ा रही होगी। वह भला यह काहे को सोचेगी कि मैं जो इतनी मेहनत कर रहा हूँ इसकी भी कुछ कीमत है, मैं पागल थोड़े ही हो गया हूँ।...बस ज़रा-सी कसर और है।

शुगी समय नाई ने टोंक दिया—दादा, अब तो मैं समझता हूँ, अस्तुरा बन गया।

गंगू धोल उठा—

कभी बन गया, बन क्या ऐसे ही जाता है ! बनाने में मेहनत पड़ती है।...अभी तो नहीं बन गया, पर हाँ, अब बना जाता है। ज़रा हाथ बढ़ाकर चक्का घुमाओ।.. हाँ, बस ठीक है। जान पड़ता है, तुम थक गये हो। जवान होकर काम पढ़ने पर इतनी जल्दी थक

जाने हो ! मैं जब तुम्हारी उमर का था तब रात-दिन काम में जुटा रहता था और थकता न था और अब भी मैं जितना काम करता हूँ, दूसरा, मेरी उम्र का, करके दिखा दे तो जानूँ। बस, ठहरो।... अरे, यह नोक रह ही गई। इसको भी ठीक कर दूँ। हाँ दो हाथ और तो घुमाओ। कोई जानकर देखेगा तो कह देगा—गंगू कारीगर तो ज़रूर था, लेकिन...। और इसी लेकिन से मुझे चिढ़ है। किसी भी काम में जहाँ यह 'लेकिन' घुसा कि सब मटियामेट हुआ। हाँ, ले; अब यह बन गया। लाओ, अब पैसे दो...। धूप भी निकल आई है। अरे ! दोपहर लौटने को हुई। बड़ी देर हो गई ! लेकिन खैर, तुम्हारा काम तो पूरा हो गया।

गंगू पैसे लेकर घर चला आया।

३

घर आकर वह देखना है, बुढ़िया दूसरी ओर को मुँह किये बैठी है। रोटी तैयार होने के कोई चिह्न नहीं देख पड़ते हैं। आँगन से ही उसने पुकारा—बिट्टी ! ए बिट्टो !!

पुनियाँ ने सुना, उसने जाना कि उसके नाना उसे पुकार रहे हैं।

गंगू भीतर की ओर चला, उसने देखा—पुनियाँ बैठी हुई है और सिसक रही है।

गंगू उसके निकट चला गया। बोला—अरे ! तू तो रो रही है !

वह उसी चारपाई पर बैठ गया और पुनियाँ का अपने पाँपलें मुँह से पुचकारने लगा। पुनियाँ ने रोते-रोते कहा—वह रोटी बनाने जा रही थी, पर बड़ी अम्मा ने...। वह सिसकी भरती हुई और आगे न कह सकी।

“अच्छा तो यह बात है” उसके सिर को अपनी गोद में भर कर, उसके सिर पर हाथ फेरता हुआ गंगू कहने लगा—“चाण्डालिन

ने तुम्हें कुछ बुरा-भला कहा है। तू अभी उसे जानती नहीं है। उसका स्वभाव ही ऐसा चिड़चिड़ा है। बड़ी दुष्ट है वह ! ले, ये पैसे ले। तेलिन के यहाँ से तेल भट ले तो आ। मैं तब तक नहा आऊँ। रो मत। रोने की क्या जरूरत है ? तू अब ऐसी निरी बच्ची नहीं है। मैं जानता हूँ, तू समझदार है। तेरा दोष नहीं है। कड़ी बात तुम्हें लग जाती है ! बस, इतनी ही बात है।”

पुनियाँ ने आँसू पोंछ डाले और भट एक छोटा बर्तन लेकर तेल लेने चली गई।

थोड़ी देर में जब गंगू नहाकर लौटा तब पुनियाँ पुवे बना रही थी। उसने कहा—आओ नन्ना, पुवे तैयार हैं। बड़ी अम्मा को भी बुला लो।

बुढ़िया मन-ही-मन कह रही थी—कोई अगर मुझसे खाने को कहेगा तो उसे बताऊँगी। ऐसी ऐसी सुनाऊँगी जो धोये न छूटेंगी।

गंगू के मन में आया कि वह बुढ़िया के पास जाय। परन्तु वह न जा सका। क्षण भर स्थिर रहकर प्रसन्नता झलकाता हुआ कुछ सोचता हुआ-सा वह कहने लगा—अरे कहाँ गई ? सुनती है कि नहीं ?—कानपुर की तुमाइश में मेरे बनाये हुये सरौते पर बीस रुपये का इनाम मिला है। ये देख, पाँच-पाँच रुपये वाले चार नोट अभी चिट्ठी-रसाँ दे गया है।

बुढ़िया तुरंत उठकर आँगन में उसके सामने आती हुई कहने लगी—लाओ, लाओ, मुझे दो—मैं अब हँसुली बनवा लूँ।

बुढ़िया के क्रोध का स्वप्न टूट गया, वह सभी कुछ भूल गई। उसका पोपल मुख प्रसन्नता के अनन्त आलोक से ऐसा फैल गया कि होंठ ही नहीं उसकी आँखें तक हँसने लगीं।

उसी समय गंगू खूब ठठा मारकर हँस पड़ा।

ठण्ठी राख

उस दिन जब मैं स्कूल जा रहा था, सुनील द्वार पर खड़ी मिली थी। मुझे देखकर सकपका गई थी और निकल जाने में सुविधा देने के लिए एक ओर हट गई थी। चलती हुई उचटती-सी दृष्टि उसके ऊपर जा पड़ी थी। बुझी-बुझी-सी प्रतीत होती थी।

स्कूल जाने को देर न होती, तो सम्भव था, मैं पूछ बैठता—
“आज कैप्टी उदास खड़ी हो सुनील बेटी?” यद्यपि उससे स्पष्ट उत्तर मिलने की मैं कोई आशा नहीं करता। जान पड़ता है, वह यही कह देती—“नहीं तो चाचा। मैं उदास भला क्यों होने लगी?” सोचता हूँ, अपने इस कथन के साथ वह अपनी चेष्टा भी कुछ बदल देती और एक कृत्रिम प्रसन्नता उसके मुख पर अवश्य झलक पड़ती। खैर, मैं चुपचाप आगे बढ़ गया था।

शाम हो चुकी थी और मैं अपने स्कूल से लौटा हुआ घर आ रहा था। घर के अन्दर पैर अभी मैंने रक्खा ही था कि देखा, सुनील बराँडे में बैठी एकादशी से झगड़ रही है। स्वर कुछ अधिक गुरु-गम्भीर हो गया है।

जीने पर चढ़ रहा था और शब्द कान में पड़ रहे थे—“मैं किसी की नहीं हूँ। तुम्हारी तो क्या, अपनी भी नहीं हूँ। मैं कुछ नहीं हूँ। समझ लो, ठण्ठी राख हूँ। भाड़ू से बटोरकर मुझे बाहर कूड़े के ढेर में फेंक दो न?”

कुछ देर बाद ऊपर बैठा भोजन कर रहा था। दीप जल गये थे। माँ बैठी माला जप रही थीं। गोविन्द मेरे पास ही बैठा खा

रहा था। खी ग्वाना पका रही थी। रन्ना नीचे में आकर अपने कमरे में जा रही थी। साथ में मुशीला भी थी। मैंने पूछ दिया—
“मुशीला ?”

“हाँ, चाचा।”—वह बोली और खड़ी हो गई।

“ग्वाना खायेगी ?”

“नहीं चाचा। दीदी ने नहीं खाया है, मैं कैसे खाऊँ ?”

मेरे हाथ का कौर हाथ ही में रह गया था। मैंने पूछा—‘यहाँ आओ, सुनो। सुनील ने ग्वाना क्यों नहीं खाया ?’

“क्या बनलाऊँ चाचा ? आज सबेरे में अब तक दो बार अम्मा से कहा सुनी हो चुकी है और दोनों बार दीदी रो चुकी है।”

“बात क्या है ?”

“मैं नहीं जानती, क्या बात है।”—सुशीला ने सिर नीचे कर कहा—“दीदी कुछ कहती नहीं हैं ! जीजा जी के यहाँ पत्र गया हुआ था न ! उसका कोई जवाब नहीं आया। अम्मा ने कह दिया, तु कुल-कलङ्किनी है, तभी तो उन लोगों ने तुझे छोड़ दिया है। आखिर वे लोग न तुझे ले जाते हैं, न पत्र का कोई उत्तर ही देने हैं। अगर कोई बात नहीं है, तो ऐसा हो कैसे सकता है ? बस, इतनी-सी बात उन्होंने कही थी।”

अभी आधा भोजन ही मैं कर पाया था, परन्तु फिर पानी पीकर उठ खड़ा हुआ। गोविन्द की माँ ने कहा था—अरे, एक पराँठा तो और खा लो। और जब मैं उठने लगा, तो खुद गोविन्द भी कह रहा था—आज अधपेटे उठे जा रहे हैं बाबू। लेकिन मैं और अधिक ठहर नहीं सका वहाँ। उठ कर चारपाई पर आकर चुपचाप लेट रहा।

उस रात बारह बजे तक नोद नहीं आई। यह गेग अब धीरे-धीरे पुराना पड़ गया है। सुनील इस घर में रहती है और मैं अपनी आँखों से उसकी झलझलाती दोपहरी-सी ज्वलन्त, ताप और उज्ज्वलता से मर्मर देह-याष्ट देख-देख कर मोचता रह जाता हूँ—यह यहाँ क्यों है? अपने स्वामी के साथ क्यों नहीं रहती? गोविन्द की माँ से भी पूछ देखा है। वह कहती है उसका आचरण ठीक नहीं है। मुहल्ले का डक्केवान कांडे बदल उसे पैसे दे जाता है और वह ले लेती है। रोज़ इसी विषय को लेकर भगडा रहता है। एकादशी कहती है, अगर किसी दिन मुझे कोई भी ऊँच-नीच बात सुनाई पड़ गई, तो मैं प्राण दे दूँगी।

इच्छा नहीं हुई कि सुनील के सम्बन्ध में और अधिक साचूँ। वह बदलू से पैसे ले लेती है। तो पैसा उसके लिए जरूरी चीज़ है! नारी के लिए पति जो कुछ है, यही वह पैसों का मान वैठी है। तब तो वह—एक शब्द में कहने योग्य—केवल वेश्या है। और अगर यह बात सही है, तो स्वामी के लिए सचमुच वह त्याज्य हो सकती है।

यही—बस यही बात—मैं उस रात भर सोचता रहा। मन में आया कि मकान-मालिक लालाजी के पास जाकर कह दूँ कि मैं मकान खाली कर दूँगा, अगर आप रामलाल बाबू के परिवार को इस मकान से निकाल न देंगे। इन लोगों के साथ एक ही मकान में रहना क्या हमारे लिए उचित है? आखिर हमारा भी एक समाज है। रत्नो ब्याहने योग्य हो रही है। गोविन्द का विवाह भी, भगवान चाहेगा, तो दो-एक वर्ष में हो ही जायगा। ऐसी दशा में इन लोगों का उसी मकान में रहना... ! छी: छी: !!

लेकिन फिर यह बात सोचकर ही रह गया हूँ। जान पड़ता है, सुनील के सम्बन्ध में कुछ अधिक मैंने साँच लिया है। परसों

स्कूल जाते समय उसकी जैसी मुद्रा मैंने देखी थी, वह क्या किसी असती नारी की हो सकती है? शिव शिव! आँसू टपकते रहने पर भी इतनी व्यथा, हृदय का रुद्ध द्वार फाड़कर, क्या कभी प्रकट हो सकती है? क्या यह सम्भव हो सकता है कि सुनील जैसी गम्भीर नारी अपने को इस कदर हीन और अपदार्थ बना ले! कलुष जैसी काली और बदबूदार चीज को भला सुनील अपनायेगी? नहीं-नहीं, यह एक भ्रम है, लाञ्छन। ऐसा कभी नहीं हो सकता। यह गलत है। गोविन्द की माँ ने भ्रमवश ऐसा कह दिया है।

दिन चल रहे हैं। अभी पहली तारीख आने को छै दिन बाकी हैं, लेकिन आज शाम को मुझसे कहा गया है कि चीनी चुक गई है, सो चौक जा रहे हों, तो ढाई सेर लेते आवें; फिर इकट्ठी आती रहेगी। मैंने पूछा—“एँ! चीनी चुक गई! लेकिन गोविन्द की माँ, तुम तो ऐसे नपे-तुले ढंग से चलती हो कि पहली-दूसरी तारीख तक तुम्हारी गृहस्थी की मर्यादा भङ्ग होने का अवसर आता नहीं है। इस बार ऐसा कैसे हुआ?”

“बात यह हुई कि”—गोविन्द की माँ ने कहा—“दो बार में सेर-सेर भर चीनी सुशीला की माँ उधार ले गई थीं। मैंने सोचा, जल्दी ही लौटा देंगी; लेकिन उनके बाबू के भी तनख्वाह तो तभी मिलेगी, जब तुम्हें मिलती है।”

बात जहाँ-की-तहाँ समाप्त हो गई। मैं बाजार से चीनी ले आया। लेकिन रात को चारपाई पर चुपचाप लेटे-लेटे जब फिर नींद नहीं आई और घूम-फिर कर सुनील ही मेरे कल्पना-पट पर, भीता हरिणी-सी, आ खड़ी हुई, तो गोविन्द की माँ से मैंने पूछा—
“सुनील के बाबू का मासिक वेतन कितना होगा?”

उत्तर मिला—“वेतन तो उनका पचास रुपया महीना है, लेकिन परिवार का खर्च भी तो है। सुनील की शादी में जो एक हजार रुपये ऋज्जु उन्होंने लिये थे, उसमें भी तो बीस रुपये महीने जाते हैं। भले आदमियों का-सा रहन-सहन रखना ही पड़ता है। दस रुपये मकान भाड़े में चले जाते हैं। दोनों लड़कियों को पढ़ाने-लिखाने में उन्होंने कुछ उठा नहीं रक्खा। इसके सिवा पचास रुपए तो अब उन्हें मिलते हैं; पहले और भी कम मिलते थे। ऐसी दशा में रुखा वे बचा ही कैसे सकते थे।”

मैंने कहा—“ऋज्जु लेकर सुनील का ब्याह उन्हें नहीं करना चाहिए था। सामर्थ्य के अनुसार न चलना सबसे बड़ी अदूर-दर्शिता है।”

किन्तु मेरा कथन गृहिणी को स्वीकार नहीं हुआ। वह बोली—“दूसरों को उपदेश देना बहुत आसान है। तुम्हीं ने कितना रुपया जोड़ रक्खा है, जरा बताओ तो सही। देखती हूँ, रत्नो का ब्याह बिना ऋज्जु लिये कैसे कर लेते हो।

मैं क्या जवाब देता ! मेरे पास इस बात का वास्तव में कोई उत्तर भी तो नहीं है। रत्नो को मैंने जिस तरह बनाया है, उसको देखते हुए मुझे अधिक-से-अधिक योग्य वर मिलना चाहिए। किन्तु दो-चार हजार रुपये खर्च किये बिना मैं जानता हूँ, यह सम्भव नहीं है।

प्रातःकाल नित्य-कर्मों से निवृत्त होकर जब मैं थोड़ा प्रकृतिस्थ हो लेता हूँ, तब मुझे यह जानने का कुतूहल होता है कि सुनील क्या कर रही है। पर ऐसे समय कभी ऐसा नहीं हुआ कि मैंने किसी से कुछ पूछकर जानने की चेष्टा की हो। आप ही आप जो

प्रतीत होता है, बस उतने से ही मैं अपना अभिप्राय पूरा कर लेता हूँ।

हाँ, तो उस समय मैंने सुना, रामलाल बाबू से उनकी गृहिणी कुछ कह रही हैं। बोल धीरे-धीरे सुनाई पड़ रहा था। सुनने में कभी-कभी बीच में एकआध शब्द अस्पष्ट भी हो जाता था, किन्तु इतना तो स्पष्ट हो ही गया कि बात कुछ मकान-किराये के सम्बन्ध में है। एकादशी कह रही है कि गोज़ मालिक-मकान का तकाजा आता है। तुम तो घर पर मौजूद रहने नहीं हो; वह ऐसी बातें कहता है, जो मुझसे सुनी नहीं जाती।

मैंने देखा, रामलाल बाबू ने एकादशी की इस बात का कोई उत्तर नहीं दिया। सिगरेट उनके हाथ में थी। एक कश लेकर वे मकान से बाहर हो गये।

तो यह स्थिति है। मकान-किराया भी विधिवत् अदा हो नहीं रहा है। लेकिन ये रामलाल बाबू भी हैं बहुत अजीब आदमी। गृहिणी की बात का कुछ उत्तर तो उन्हें देना चाहिये था। और न सही कम-से-कम इतना ही कह देने कि मैं मकान-मालिक के पास जाकर उनसे बानचीत कर लूँगा !

दिन बीत गया। मैं भी भूल गया कि सुबह क्या बातें मैंने इस परिवार को लेकर सोची थीं। लेकिन रात को गोविन्द की माँ ने बतलाया, रामलाल बाबू आज घर नहीं आये। आकिस से तो नियत समय पर चले आये थे; पर फिर मालूम नहीं कहाँ और किस अभिप्राय से रह गये।

मेरी चिन्ता बढ़ गई। सब लोग सो गये तो भी मैं जागता रहा। ग्यारह बजे के लगभग मैंने सुना, किवाड़ की कुण्डी ज़रा-सी खटकी। फिर भी किवाड़ खुले, ऐसा आहट हुआ। शय्या से

चटकर मैं बाहरी छज्जे पर आकर गली की आर भुककर देखने लगा। मुझे एक छाया-सी चलती देख पड़ी। फिर कुछ फुसफुसाहट हुई। एक वाक्य और सुनाई पड़ा—‘नहीं, इतना रुपया मैं दे नहीं सकता।’ तब एक सम्राटा। फिर रोने का स्वर और एक व्यापक नीरवता। फिर कुछ फुसफुसाहट और तत्काल किवाड़ खुलने और बन्द होने का स्वर।

मैंने सोच लिया, वही इक्केवान होगा। और एक कृत्सा-सी सुनील के प्रति मेरा भातर फैल गई। अब मुझे उसके लिए कुछ सोचना शेष नहीं रह गया था। गोविन्द की माँ से भी मैंने कह दिया—‘अब इन लोगों के साथ किसी प्रकार की रू-रिआयत मत करना। ऐसे लोगों के प्रति हमें कोई दया या सहानुभूति नहीं है चरित्र को बेचकर जो अपना स्वार्थ-साधन करने हैं।’

बात यह है, मैं सोचने लगा—परिस्थितियाँ तो अनुकूल और प्रतिकूल व्यक्ति के जीवन में आती ही हैं; उनके सुलभाना अथवा उनका सामना करना उसका कर्तव्य है। किन्तु यह तो समाज का जहर देना हुआ। सहस्रों वर्षों के उतार-चढ़ाव और घोर सङ्घर्ष जिसने अत्यन्त निर्ममता के साथ वहन किये उसके साथ व्यक्ति का बलिदान भी मैं सहन कर सकता हूँ। किन्तु संस्कृति हमारी सुरक्षित रहनी चाहिये। कलुष के साथ हम कभी समझौता नहीं कर सकते।

इसी बात को गोविन्द की माँ ने, बल्कि कुछ ढंग बदलकर कहा कि हमारी स्थिति ही कहाँ इतनी अच्छी है कि हम इन लोगों के लिए कुछ कर सकें।

किन्तु मैंने और साफ़ कर दिया। मैंने कहा—‘न, मैं कहता हूँ कि स्थिति अच्छी भी हो, तो भी नहीं—किसी तरह नहीं।’

उस दिन और तो फिर कोई बात नहीं हुई, लेकिन दूसरे दिन यह पता चला कि रामलाल बाबू दो बजे के करीब आ गये थे; आ गया गये थे, दरवाजे पर अस्तव्यस्त पड़े मिले थे। एकादशी शायद पानी पीने उठी था। उसी समय उसे दरवाजे पर कुछ आहट हुई। अक्सर इन आहटों का मर्म वह लेती जो रहती है। तभी उसने देखा कि रामलाल बाबू नशे में बेहोश पड़े हैं। पायजामा नाली के कीचड़ से सना हुआ है। कोट पर धूल और लीढ़ के दाग पड़े हैं।

तो स्थिति यह है ! आदमी रामलाल बाबू मज्जे के निकले। लड़की के विवाह में कर्ज लेते हैं, रहन-सहन के ढंग में स्थिति के अनुसार कमी कर नहीं सकते, मकान किराया अदा न कर पाने पर अन्य कोई यत्न करना दूर रहा, शरण लेते हैं शराब की ! तात्पर्य यह कि मर्यादा से सर्वथा होन बनने में कसर किसी तरह की रह नहीं गई, वाह-वाह-वा !

दिन चल रहे हैं। इधर कई दिन से मकान-मालिक का आदमी तक्राजे के लिए नहीं आया। महीने का प्रारम्भ चल रहा है। जान पड़ता है, रामलाल ने कुछ रुपया जमा कर दिया है। खाने-पीने का समान भी इन लोगों के यहाँ विधिवत् आ रहा है। चलो, अच्छा है। किसी तरह काम चल रहा है। हमें भी चिन्ता से मुक्ति मिल गई है। जो जैसा करेगा, वह वैसा पायेगा। व्यर्थ में किसी की समस्याओं को लेकर दर्द-सिर क्यों पाला जाय !

लेकिन जाड़ा आ गया और नुमायश शुरू हो गई। शुरू ही क्यों, आज तो उसे नवाँ दिन था। रओ वगैरह भी कल देख आई हैं। रामलाल बाबू के घर उनके जामात आये हुए हैं और सुनील दिन-भर मकान में बन्द-सी रहती है। कई दिन से उसकी

छाया भी नहीं दीख पड़ी। एक तरह से यह बहुत अच्छा हुआ। अब सुनील को ससुराल जाने का अवसर भी मिल सकता है। किन्तु कल सुशीला को लेकर जब उसके बहनोई साहब, मिस्टर पीताम्बर नुमायश के लिए चलने लगे, तो साथ में एकादशी ने सुनील को भी कर देना चाहा। पर सुनील इसके लिए तैयार नहीं थी। देर तक इस विषय में कुछ कहा-सुनी भी हुई। अन्त में बड़ी देर बाद, रस्ते के बहुत आग्रह करने पर, सुनील ने आँसू भरकर कहा—उसके पास कोई नयी साड़ी नहीं है। वह जाना भी चाहे, तो कैसे जाय। जेवर भी दो-एक……। लेकिन यह बात पीताम्बर बाबू पर प्रकट तो की नहीं जा सकती थी। तब मामला यहीं दबा दिया गया और ठहरा यह कि आज तो अब देर हो गई है, कल वह चल सकेगी।

दूसरा दिन भी आ पहुँचा। पता नहीं कहाँ से क्या हुआ कि सुनील के लिए एक बढ़िया साड़ी भी आ गई। खूब सज-धज के साथ वह छोटी बहिन सुशीला को साथ लेकर पीताम्बर बाबू की कम्पनी बनकर नुमायश देख आई। कई तरह के स्नो, पोमेड और साड़ी में लगाने के पिन पीताम्बर बाबू सुशीला और सुनील दोनों के लिए ले आये। यहाँ तक कि लौटने पर, घर-भर में, इन चीजों को लेकर एक कोलाहल-सा मच गया।

यह दिन इस मकान में बड़े आनन्द का था। रामलाल बाबू इतने प्रसन्न मुझे कभी नहीं दीख पड़े। और एकादशी तो हर एक चीज मुझे स्वयं दिखलाने आई। बड़ी प्रसन्नता से उसने बतलाया कि चौधरी साहब की नौकरी लग गई है और अब वे सुनील को अपने साथ ले जायँगे। बल्कि इसी लिए वे अब तक उसे लेने को आ नहीं रहे थे।

मुझे आज एकादशी की ये बातें बड़ी सुहावनी लग रही थीं। आज सुनील के प्रति मेरे मन में किसी तरह की दुर्भावना भी नहीं रह गई थी। मैं सोचने लगा था कि जीवन की अत्यन्त लम्बा यात्रा में एक-आध बार ग्वाई या खन्दक में गिर जाने का कोई विशेष मूल्य नहीं। सबसे बड़ी बात तो उस यात्रा का पार करना है।

आज मैं कुछ देर से भी सोया। बात यह हुई कि इस समय का भोजन पीताम्बर बाबू को हमारा हाथों पर करना था। खाने-पीने में कुछ देर भी हो गई थी। तभी दूसरे दिन मैं कुछ देर में उठा। उठा क्या, बल्कि उठना पड़ा। क्योंकि घर भर में कालाहल मचा हुआ था। कई लोग इधर-से-उधर आ जा रहे थे। सुशीला रो रही थी और एकादशी जोर-जोर से शिलाप कर रही थी। पृष्ठने पर पता चला कि सुनील ने विष-पान करके प्राणत्याग दिया है।

इस पहली को मैं कई दिनों तक सोचता रहा। समझ में नहीं आ रहा था कि सुनील ने ऐसा क्यों किया। किन्तु ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, त्यों-त्यों कुछ और भी बातें खुलती गईं। पता चला कि उस बार छः मास का मकान-भाड़ा जो एक साथ अदा कर दिया था, उसके बीच में सुनील और वह रात थी। और अभी उस दिन वह जो साड़ी आई थी, उसके आने में भी सुनील का ऐसा ही कुछ करना पड़ा था। किन्तु इतना सब होने पर भी अपने स्वामी के प्रति तो सुनील का सच्चा ही रहना था। आर्थिक हीनता-पूर्ण जीवन के दुष्परिणामों के साथ स्वामी के प्रति अपने नारीत्व के आत्मसमर्पण का समन्वय वह कैसे करता ! न वह अपने पिता-माता और बहिन का दुर्दशा देख सकती थी, न स्वामी के प्रति विश्वासघात करना उसे स्वाकार था।

आज मैं स्कूल नहीं गया। चित्त मेरा वैसा स्वस्थ नहीं है। आज सुनील के उम ज्योतिर्मय मुख की स्मृति बार-बार आ रही है। रत्ना अभी पूछ गई है कि बाबू सिर में दर्द हो तो गेम्पिरान की गाली ले आऊँ? गोविन्द की माँ ने भी पूछा—“बात क्या है, कुछ कहोगे भी?”

किन्तु मैं उसे कैसे समझाऊँ कि इस सुनील को हम लांग उसके जीवन-काल में जो कुछ समझते रहे, उससे वह कितनी भिन्न थी!

मैंने पूछा—“रामलाल बाबू का मकान छोड़े कितने दिन हुए?”

उसने जवाब दिया—“अभी कौन बहुत दिन हुए, कुल तीन महीने तो हुए ही हैं।” किन्तु फिर इसी सिलसिले में वह प्रश्न-पर-प्रश्न करने लगी। बोली—“आखिर क्यों पूछ रहे हो यह सब?”

मैंने कहा—“कुछ नहीं, यों ही पूछा।”

किन्तु फिर उसने पूछा—“यों भी कैसे पूछा? यही तो मैं जानना चाहती हूँ।”

मैंने कह दिया—“अब मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि तुमने इन लोगों को उधार और व्यवहार में जो-कुछ भी देकर वापस नहीं पाया, मेरे जीवन-भर की अर्जित सम्पत्ति में केवल उतना ही सत्य है, गोविन्द की माँ! सुनील नितान्त अद्भुत और एक दृढ़ चरित्र की लड़की थी। शरीर को वह धोखा दे सकती थी, किन्तु उसकी आत्मा उज्ज्वल थी। सत्य पर परदा डालना उसे सहन न था।”

वह बोली—“तुम्हारी बातें मेरी समझ से परे हैं।”

इतना कह कर गोविन्द की माँ तो भीतर चली गई, किन्तु तब से सुनील के ये शब्द जैसे अब तक कानों में गूँज रहे हैं—“मैं किसी की नहीं हूँ। तुम्हारी तो क्या, अपनी भी नहीं हूँ। मैं कुछ नहीं हूँ। समझ लो कि ठण्डी राख हूँ। झाड़ू से बटोरकर मुझे बाहर कूड़े के ढेर में फेंक दो न ?”

जीत की हार

अगाध जल में एक बार डूबकर, फिर प्रवाह के ऊपर आकर जब कोई वह चलता है, तो संसार उसे किसी-न-किसी प्रकार कहीं देख तो पाता है। माना, वह बहते-बहते जीवन से दूर, जगत् से भी दूर जा पड़ता है; किन्तु जलचर, नभचर और भूला-भटका कोई मानव-प्राणी उसका परिचय तो प्राप्त कर लेता है। किन्तु त्रिवेणी अपने आपको उस निर्जीव शव से भी हीन और लुद्र देख रहा है। प्रायः वह संसार की ओर देखता हुआ भी उससे बिलग होकर अपनी आँखें फेर लेता है। वह सोचता है, एक बार डूबा हुआ व्यक्ति भी शव होकर कभी-न-कभी किनारे लग जाता है। किन्तु दो बार डूब कर भी जो उस पाग न पहुँच सका, उसका कर्मभोग कितना प्रबल है! और, फिर यह कितनी विचित्र बात है, यह त्रिवेणी न जीवित है, न मृत। जीवन रखते हुए भी वह निर्जीव है, और निर्जीव होते हुए भी जीवित।

तमोली के यहाँ से पान खाकर, ऊपर से सिगरेट का एक कश लेकर त्रिवेणी अपने घर की ओर लौट पड़ा। उसने चाहा, जल्दी चले, किन्तु धीरे-धीरे, इतमीनान के साथ, चलता रहा। वह घर नहीं पहुँच पाया था, क्योंकि तमोली की दूकान से वह थोड़े फासले पर पड़ता था। उसके रास्ते में एक मन्दिर और पार्क भी मिलता था। वह अभी पार्क के कोने तक ही पहुँच पाया था कि उसे सुन पड़ा—“बाबूजी, आ बाबू जी!”

त्रिवेणी खड़ा हो गया। उसने देखा, पुकारनेवाला वही बालक है, बिलकुल वही, जिसे सड़क पर आता देख वह घूम

पड़ा था । नंगे पैर, बदन पर एक मैला फटा कुरता और नीली जीन का पुराना नेकर ।

किन्तु त्रिवेणी को दूर से ही देखकर, क्षण भर में ही, बालक का भाव बदल गया । उसके मुख पर सरल हास खेलने लगा ।

और त्रिवेणी ?

वह उसे इतना प्रसन्न देखकर भी अपने में तुरन्त कोई परिवर्तन न पा सका ।

बालक जब बिलकुल त्रिवेणी के पास, उससे लगकर, खड़ा हो गया, तो त्रिवेणी जैसे भीतर से बाहर आकर, चकित भाषा में, बोल उठा—“अरे, तू इधर कैसे आ निकला !”

“मिस्त्री ने दो कढ़ाइयाँ एक बाबू के पास रख आने को भेजा था । लौटते हुए जो तुम्हें तमोली की दूकान से वापस जाते देखा, तो मैं इधर ही, पीछे-पीछे, चला आया ।”

त्रिवेणी कुछ बोला नहीं । हाँ, उसे अपने बदन से चिपकाकर उसके सिर पर हाथ अवश्य फेरने लगा ।

तब बालक ने धीरे-धीरे, लजाते-लजाते, साहस करके, कह दिया—“दो पैसे दे दो बाबू !”

“क्या करेगा पैसे लेकर ?” कहकर त्रिवेणी ने उसकी ठुड्डी पकड़कर ज़रा ऊपर को उचका दी ।

“पान खायेंगे, और सिगरेट पिँगें ।” उत्तर के साथ उत्फुल्ल बालक की दंत-पंक्ति झलक उठी ।

त्रिवेणी ने एक चबत्री उसके हाथ पर रख दी ।

बालक तुरन्त अत्यधिक उत्साहित, अकल्पित अनुप्राणित होकर चलने लगा, तो त्रिवेणी ने कहा—“मिठाई भी खा लेना गोपाल, भला !”

इस बलक से संबंध रखनेवाली त्रिवेणी के जीवन की एक कथा है।

त्रिवेणी उस समय विधुर था। उसकी स्त्री का स्वर्गवास हुए दो वर्ष व्यतीत हो चुके थे। उसने सोचा था, अब, दूसरा विवाह नहीं करेगा; क्योंकि स्त्री विधवा हो जाती है, तो हिंदू-समाज उसे दांपत्य-सुख से सदा के लिये वंचित कर देता है, और पुरुष जब विधुर हो जाय, तो उसके लिये भी तो इसी प्रकार का कोई बंधन होना चाहिये।

किंतु यह उत्तर केवल मित्रों के आग्रह का समाधान करने के लिये होता था। असल बात और थी, और चाहे न भी हो, पर उसके सोचने का ढंग ज़रूर दूसरा था। वह सोचता था—जब नंदिनी चली गई, तो अब दूसरा विवाह करके फिर से एक नवीन संसार वह कैसे बनाये ?

दिन चल रहे थे। दिन तो चल रहे थे, पर त्रिवेणी जीवन से उत्तरोत्तर विरक्त होता जा रहा था। घर पर उसे कोई काम नहीं करना पड़ता था। पिता नगर के सूत-बाज़ार के प्रतिष्ठित दलाल थे। उनकी आय निर्वाह-भर के लिये यथेष्ट होती थी। यह दारुण आघात त्रिवेणी की आत्मा पर इतनी गहराई से अंकित हो चुका था कि संसार की किसी भी वस्तु से उसका कोई संबंध नहीं रह गया था। उसकी मा जब बहुत आग्रह करती तो भोजन कर लेता। उसका सूखा, मुरझाया और पिचका हुआ मुख देखकर उससे आधी बात करने का भी किसी को साहस न होता था। कभी-कभी कई दिन तक वह घर के बाहर रहता। कभी पार्क में सो रहा, तो कभी किसी मित्र के यहाँ। किसी ने खिला दिया, तो खा लिया, अन्यथा पूरा उपवास कर गया। लेटा है,

तो दस-दस, बारह-बारह घंटे लेटा ही है। कोई कुछ पूछता, तो उत्तर दे देता, पर अपनी ओर से किसी से बात न करता था।

लेकिन मनुष्य इस तरह कितने दिन रह सकता है ? इस तरह का व्यक्ति या तो महाप्रस्थान की ओर बढ़ जायगा, या किसी-न-किसी दिन प्रतिक्रिया के प्रणय-पाश में पड़कर कुछ-का-कुछ हो बैठेगा। जीवन रहते नवल भावनाओं के मृदुल दोलन से अपने आपको सर्वथा अलुण्ण रख कैसे सकेगा ?

:

❀

✱

संयोग की बात, एक दिन त्रिवेणी केदार के घर जा पहुँचा। उसके साथ उमका दूर का नाता था। उसकी नवभार्या नंदिनी की चचेरी बहन थी। उसका नाम था रामकली। त्रिवेणी उमसे परिचित था। ससुराल में भी वह कली कहकर ही उसे पुकारता आया था; क्योंकि उन दिनों वह एक अबोध बच्ची थी।

पर कली अब वह कली न रह गई थी। वह अब खिल चुकी थी। तो भी उसके लिये नाम तो उसका कली ही था। त्रिवेणी ने अनेक वर्षों बाद जो उसे देखा, तो चकित हो उठा! बोला—“अरे ! मैं तो समझा बैठा था कि तू वही, उसी तरह की नन्ही-सी कली होगी। पर.....”

इसके बाद उसकी वाणी अटक गई। आगे की बात जैसे पर लगाकर उड़ गई।

केदार बोला—“अहो भाग्य ! आपने मेरी इस मोपड़ी में आने की कृपा तो की।” और, कली पहले थोड़ी शरमाई, जरा झिझकी किंतु उसके अधरपल्लव बाँझा-हीन होते हुए भी उन्मीलित हो ही गये। आदर-पूर्वक उसने त्रिवेणी को आसन दिया, और कहा—“कहाँ भूल पड़े जीजा ?”

त्रिवेणी कली की ओर एकटक देखता रह गया। वह कोई उत्तर न दे सका।

कली उस पर पंखा झलने लगी।

केदार और कली, दोनों ग सुन रक्खा था, त्रिवेणी पत्नी के वियोग में विरक्त हो गया है, यहाँ तक कि उसके जीवन का क्रम टूट चुका है। अतएव अनायास उसे सामने पाकर दोनों ने आत्मीयता के साथ स्वागत किया।

केदार उसके लिये मिष्ठान ले आया। कली ने तश्तरी में कायदे से सजाकर, शीशे के गिलास में बरफ के ठंडे पानी के साथ, सामने रखते हुए विनय-पूर्वक कहा—“हम आपके स्वागत-सत्कार के योग्य नहीं। फिर भी जो कुछ है, विदुर का-सा मानकर कृपया स्वीकार कीजिये।”

केदार बोला—“मैं क्या जानता नहीं कि आप क्या-से-क्या हो गये हैं! चाचाजी से रत्ती रत्ती समाचार मिलता रहता है। लेकिन क्या क्या जाय, आपके उस दुःख की पूर्ति तो अब संभव नहीं। जैसे बने, अपने को धैर्य के सहारे फुसला-फुसलाकर रखना है। फिर अभी आपकी उम्र ही क्या है!”

कली दामिनी-सी धवल दंत-पंक्ति झलकाकर, साड़ी का छोर भाल-बिंदु तरु खिसकाती हुई, मंदिर हास के झकोर में, मंद स्वर से बोली—“इन्हें बात करने का भी शऊर नहीं है जीजा! देखो, क्या-से क्या कहने लगे!...खैर, तुम जलपान करो जीजा, इनकी बातों में न पड़ो।”

केदार ने, जान पड़ता है, कली की बात सुन ली, इसलिये हँसता हुआ बोल उठा—“देखा आपने? यह हमें इसी तरह पागल बनाया करती है। कहती है—तुम्हें शऊर नहीं। भला, आप ही

बतलाइये, आप तो पढ़े-लिखे, होशियार व्यक्ति हैं, अभी हमने आपसे ऐसी कौन-सी बात कह दी, जो बेजा हो।”

“तुम शुरू करो जीजा। हाँ-हाँ, इनकी बातों में मत पड़ो।” उसी प्रकार अतिशय मंद स्वर में, हौले हौले हँसती हुई, कली बोली।

त्रिवेणी की जैसे आँखें खुल गईं। जैसे अभी तक वह सोता ही रहा हो, और उसे यह बोध ही न हो सका हो कि संसार कितना विस्तृत है। आज उसे प्रतीत हुआ कि एक-न-एक अभाव प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में है। वह अपने ही अभाव के लिये रोता है, किंतु जिधर भी उसकी दृष्टि जाती है, उधर उसे प्रत्येक का अभाव अलग अलग स्पष्ट झलकता हुआ प्रतीत होता है। कली ने केदार को पाकर जो कुछ भी पाया है, उसके सामने है। किंतु सब कुछ पाकर भी जो कुछ वह उसमें नहीं पा सकी, उसे भुलाकर वह रह नहीं सकती। हँसती-हँसती उसे कह डालती है, क्योंकि इस रंध्र को उसे अपने निभृत निलय में पालकर, सुलाकर नहीं रखना है। तभी तो वह खुद ही कह डालती है।—“इन्हें बात करने का भी शऊर नहीं है जीजा ! देखो, क्या-से-क्या कहने लगे।” क्योंकि वह जानती है कि जो पत्नी-वियोग से व्यथित है, विदग्ध है, उससे यह बात नहीं कहनी चाहिये कि अभी उसकी उम्र ही क्या है ! और तमाशा यह कि केदार बनता चतुर है, और फलतः भार्या की उपर्युक्त बात पर चिढ़ता भी नहीं है, तो भी वह इतना भी नहीं जानता कि उसकी बात में असंगति क्या है।

त्रिवेणी यही सोचता हुआ जल-पान करता रहा। न तो उसने केदार की बातों का समर्थन किया, न कली के विचार का अनु-मोदन। हाँ, अपलक दृष्टि से वह कली की मुद्रा में उसके अंतस्तल का प्रतिबिंब अवश्य देखता रहा।

थोड़ी देर में त्रिवेणी जब दूसरे कमरे में चला गया, तो उसने देखा, केदार कुछ गम्भीर हो गया है। तब उसके मन में आया कि वह उससे कुछ बात करे।

उधर केदार घूम-फिरकर बारंवार यही सोचने लग जाता कि त्रिवेणी जो आज यहाँ टिक गया, तो !

वह उस प्रकार का व्यक्ति है, जो आज को उस कल की तराजू से तौला करते हैं, जो भविष्य—निकट भविष्य—का है। शिष्टाचार और आतिथ्य की मर्यादा वह समझता है। अवसर आने पर बर्तन बेचकर भी वह आगत का स्वागत-सत्कार करने में कभी चूक नहीं सकता। और, इसीलिये सोचने का खाता लिखते समय वह रोकड़ बाक़ी तक लिखकर ही दम लेता है। वह मानता है कि समझ को देखना ही यथेष्ट नहीं, वह तो अपूर्ण देखना हुआ। अरे भाई, जब देखना ही है, तो देखते क्षण हमें पृष्ठ भाग भी देख लेना चाहिए।

एक ज़माना था, जब ज़िम्मेदारी के जीवन में पैर रखते ही उसे एक आश्रयस्थल मिल गया था। वह इनकमटैक्स के दफ्तर में साठ रुपए महीने की नौकरी पा गया था। उस समय किसी प्रकार उसका निर्वाह हो जाता था। बचाने के संबंध में कभी उसने गहराई के साथ विचार नहीं किया, क्योंकि वह मानता था कि मध्यम श्रेणी का नागरिक सौ रुपए महीने से कम की आय में कुछ संप्रह कर सकने का स्वप्न नहीं देख सकता। अतएव नौकरी छूटने के बाद वह बराबर घर की ही पूँजी का उपयोग करके काम चलाता रहा। तभी तो आज उसे सोचना पड़ा कि त्रिवेणी अगर आज उसके घर ठहर गया, तो !

त्रिवेणी ने कमरे में पहुँचकर, पलंग पर बैठते ही पूछ दिया—
“आजकल क्या करते हो केदार भाई ?”

अलमारी की एक पुस्तक उठाकर उसे फिर उसी स्थान पर रखते हुए केदार ने उत्तर दिया — “क्या करूँ, क्या न करूँ, यही सोचा करता हूँ।”

“तो काम कैसे चलता है ?”

“कैसे बताऊँ !”

त्रिवेणी अब तक जैसे सोता रहा हो। वह इससे पहले यह जान ही न सका कि जीवन-संघर्ष भी कोई वस्तु है। मानो यही समझता आया हो कि प्रत्येक व्यक्ति इतना समर्थ और सौभाग्य-शाली होता है कि उसके यौवन-काल में भी पिता या भाई ही रुपया-पैसा पैदा करते हैं, और तब तक वह सर्वथा स्वतंत्र रह सकता है जब तक आपही-आप उसके समक्ष यह समस्या उपस्थित नहीं हो जाती कि अब तो हमें कुछ करना ही पड़ेगा।

केदार कभी त्रिवेणी के पास बैठता, और कभी अंदर जाकर भार्या से बातें करने लगता। वह खुद भूखा भी रह सकता था, किंतु ऐसे संभ्रांत अतिथि को भूखा कैसे रखता ? जब वह और देर तक अपने संकल्प-विकल्प को कली से छिपाकर न रख सका, तो उससे पूछ ही बैठा — “यह अगर आज रह गए, तो ?”

विवर्ण होकर कली ने कह दिया — “आज का काम चल जायगा।” किंतु उसके इस उत्तर का केदार के मुख पर जो उत्फुल्ल भाव झलक उठा, कली ने ज्यों ही उसे ग्रहण कर पाया, त्यों ही उसने कह दिया — “किंतु कल भी अगर उन्होंने रहना चाहा, तो ?”

“कल भी अगर उन्होंने रहना चाहा, तो ?” मन-ही-मन केदार उसकी यह बात दोहराकर अग्नि की चिनगारी से जैसे चहक गया हो ! किंतु वह क्षण मूक रहकर सोचने का न था, इसलिये तुरंत उसने कह दिया — “तो आगे का प्रबंध आज ही कर लेना चाहिये।”

कली ने अँगूठी उतारकर उसके हाथ पर रख दी। वह बोल न सकी। उसे प्रतीत हुआ, जैसे उसके भीतर हृत्पिण्ड से लेकर कंठ तक एक पाषाणशिला अटक गई है। कारण, यह उसका अंतिम स्वर्णभरण था।

केदार अँगूठी जेब में डालकर घर से बाहर हो गया।



त्रिवेणी के जीवनव्यापी अंधकार को एक बार फिर आलोक ने पराजित कर पाया है। वह सदा उल्लासित, उत्साहित देख पड़ता है। केदार के सहयोग में वह स्त्री-बच्चों के सिले-सिलाए अलंकृत कपड़ों का व्यवसाय करता है।

कली सिलाई, कटाई और कसीदे का काम बहुत अच्छा जानती है। कुछ कारीगर नौकर रख लिए गए हैं। बूटे काढ़ने और सिलाई करने की तीन मशीनें उसके घर सोलह-सोलह घंटे चला करती हैं।

त्रिवेणी अब कई-कई दिन तक अपने घर नहीं जाता। घर जाने की उसे फुरसत ही नहीं मिलती, जाय कैसे? उसके माता-पिता भी यह जानकर निश्चित रहते हैं कि वह किसी तरह प्रसन्न तो रहता है। माना, वह विवाह नहीं करना चाहता, लेकिन इससे क्या? अपना-अपना विचार और भाव ठहरा। जब वह किसी प्रकार इस बात पर राजी ही नहीं होता, तो किया क्या जाय? इस संबंध में उसके साथ जबरदस्ती भी तो नहीं की जा सकती!

केदार छाया की भाँति त्रिवेणी का साथ देता है। उसने अनुभव किया है कि किसी के साथ आत्मीयता हो, तो ऐसी—उज्ज्वल और स्वार्थ-हीन। देखो तो, इस व्यक्ति ने उसके वैसे संकुचित और दुर्गम जीवन को कहाँ लाकर पहुँचा दिया। कली के वे आभूषण,

जिनको बंधक-जीवन से छुटकारा मिलना कभी संभव न था, फिर लौट आए। किराए का मकान तक अपना हो गया। यह सुख, संतोषमय जीवन एक त्रिवेणी ही के द्वारा तो उसे प्राप्त हुआ।

उधर कली के जीवन में एक नया अध्याय आ गया है। किसी काम के लिये जब वह त्रिवेणी से कुछ कहती है, तो वह तत्काल, सबसे पहले, कर डालता है। कली सोचती रह जाती है कि यह त्रिवेणी कितना ऊँचा व्यक्ति है ! अः मनुष्य में इतना सौहार्द भी संभव है !

आश्विन-मास के दिन थे। केदार कहीं बाहर गया हुआ था। कई दिन के ज्वर के बाद त्रिवेणी उस दिन कुछ स्वस्थ हो पाया था। उस समय उसके सिर में थोड़ा दर्द था। कली अपनी ही तबियत से उसके सिर में तैल मलने लगी।

इस अस्वस्थता में त्रिवेणी को एकांत वास का जो अवसर मिला, वह उसके लिये विष बन गया। कभी-कभी अवसर निकाल कर वह सोती हुई कली के निकट जाकर खड़ा हो जाता। देर तक उसके अभिराम रूप को, उसके अप्रतिम अंग-सौष्ठव को एक ओर खड़ा चुपचाप देखता रहता, किंतु आत्मविस्मृत होना तो दूर, कभी न ज़रा आगे बढ़ता, न उस प्रकार का कोई शब्द मुँह से बाहर आने देता।

संयोग की बात, उसके जीवन में यह सोने का क्षण भी आ गया। कली का कोमल अंगुलिस्पर्श पाकर वह कृतार्थ हो गया। थोड़ी देर बाद, करवट बदलकर, वह कली की ओर अपलक दृष्टि से देखने लगा।

उसी क्षण कली ने पूछ दिया—“सिर का दर्द अब कुछ कम हुआ ?”

त्रिवेणी अपने ऊपर के अधिकार से, आप-ही-आप, अनपेक्षित, अवश रूप से खिसक पड़ा। बोला—“सिर का दर्द तो अच्छा हो गया।”

कली कुछ विस्मित हो उठी। बोली—“तो क्या और भी कहीं दर्द है ? तुम इतना संकोच क्यों करते हो ? मुझे तुम्हारे हाथ-पैर दाबने में भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती।”

जिह्वा के दंत-पंक्तियों के बीच दबाकर त्रिवेणी बोला—“तुम यह कहती क्या हो कली ! छिः ! छिः !!”

“तो ?”

“जाने दो उस बात को ; मैं बिल्कुल अच्छा हूँ। कहीं कोई भी दर्द-वर्द नहीं।”

मंदिर हास के झुकोर में कली बोली—“अब समझी। तुमने पागलपन की बात सोच डाली। राम-राम ! ऐसा भी कोई सोचता है ? मैं तुम्हें देवता की तरह पूजनीय मानती हूँ।”

पराजित त्रिवेणी ने तब झट से उठकर कली के चरण छू लिए। बोला—“मैं तुमसे क्षमा चाहता हूँ कली ! सचमुच मेरे मन में दूसरा भाव आ गया। तुम्हारी इस मनोहर रूप-माधुरी और इन कमल-नाल-सी कोमल उँगलियों के अकल्पित स्पर्श ने मेरे भीतर एक ज्वालामुखी धधका दिया।”

“तुमने मुझे मार डाला ! मैं तो तुम्हें वंदनीय मानती थी। मैं नहीं जानती थी, तुम्हारी इस पवित्र आत्मा के भीतर ऐसा भयानक विषधर सो रहा है ! तुमने यह न सोचा कि मैं हिंदू नारी हूँ, स्वामी ही मेरा सब कुछ है। दूसरे की ओर आँख उठाकर देखना भी मेरे लिये मृत्यु है। तुम अपनी इस सारी संपत्ति को ले जाओ जीजा ! मुझे एक पाई न चाहिए।” कहकर अतिशय उत्तेजित होकर कली वहाँ से उठकर चल दी।

त्रिवेणी बहुत अशक्त हो गया था। उठकर वह कहीं जा नहीं सकता था। तो भी उसने चल देने की हृद चेष्टा की। किसी तरह सीढ़ी से नीचे उतर आया, किंतु द्वार से आगे न बढ़ सका, लड़-खड़ाकर गिर ही पड़ा।

नौकरानी ने कुछ गिरने के शब्द के साथ जो त्रिवेणी के कराहने का शब्द सुना, तो देखा, बड़े बाबू गिरे पड़े हैं। वह चिल्ला उठी—“अरे बहूजा, देखा तो, बड़े बाबू यहाँ गिर पड़े कराह रहे हैं।”

कली दौड़ती हुई तुरंत नीचे आई। नौकरानी ने भी सहारा दिया, तब कहीं दोनों मिलकर बड़ी कठिनाई से त्रिवेणी को ऊपर ला सकीं।

त्रिवेणी की सांस फूल आई थी। चाहते हुए भी वह कुछ कह न सका। किंतु वह समर्थ होता। तो इतना जरूर कहता—मुझे उठाओ मत कली, यहीं पड़े-पड़े मर जाने दो। मैं तुम्हारा सहानुभूति नहीं चाहता, मैं तो एकमात्र तुम्हारी घृणा का ही पात्र हूँ।”

त्रिवेणी का घुटना छिल गया, उसकी कमर में भी चोट आ गई। कली ने डॉक्टर बुलवाकर उसे दिखलाया, खुद दवा बाँधी, सेंका, और यथाविधि उसका उपचार किया। अधिकार-पूर्वक उसने उसे भरसक आराम दिया। कई दिन तक रात-दिन उसके पास बैठी रही। पचासों प्रकार की बातें उसने उससे कीं। घुमा-फिराकर उसकी पराजित आत्मा को भी उसने उल्लसित किया। यहाँ तक कि त्रिवेणी उस आघात को भी भूल-सा गया, उसने अंत में यह भी कह डाला—“तुमने मुझे क्षमा कर दिया कली! चलो, यह बहुत अच्छा हुआ। मैं तो जैसे जी गया।”

कली बोली—“तुम सोचते हो, तुम एकमात्र अपने ही हो। किंतु तुम यह क्यों नहीं सोचते कि जितने तुम अपने हो, उससे कुछ

कम या अधिक, थोड़े बहुत मेरे भी तो हो। तुम अपने ऊपर अन्य सभी प्रकार का अन्याय और अत्याचार कर सकते हो किंतु पतन की ओर नहीं जा सकते जीजा ! तुम मेरी आशाओं के बंदी हो। तुम चल सकते हो, दौड़ भी सकते हो, किंतु तुम गिरने नहीं दिए जा सकते। तुम तो आगे रहनेवाले व्यक्ति हो। बीच में तुम्हारे लिये स्थान कहाँ है ?”

प्रतिहत, पराजित और द्रवीभूत त्रिवेणी बोला—“अपने इस विवेक में से थोड़ा मुझे भी दे दो, कली !”

“उलटी बात मत कहो जीजा ! कली तो त्रिवेणी की सलिल-राशि पर ही तैरती रहती है। उसने जो कुछ भी पाया है, उसी संगम का तो है। उसका अपना क्या है ?”

“तुम देवी हो कली ! देवता ही तुम्हें पा सकते हैं। मनुष्य की गति से तुम सर्वथा परे हो।”

“यह तुम्हारा भ्रम है जीजा !” कहकर कर्श कुरेदती. अन्य-मनस्क कली “पनडब्बा ले आऊँ” कहती हुई वहाँ से उठकर अपने आवास की ओर चली गई।

*

*

*

चौक में केदारनाथ-त्रिवेणीनाथ के नाम से एक दूकान कई वर्ष से चल रही थी। किंतु उस पर बैठा केदारनाथ ही था ; बहुत कम ऐसा अवसर आता था कि त्रिवेणी को वहाँ बैठने के लिये विवश होना पड़ता हो। उस दिन, संयोग की बात, वह बहुत सबेरे वहाँ जा पहुँचा, जब दूकान पर बैठनेवाला नौकर जगदीश दूकान खोल ही रहा था। अनायास उसे कुछ पैसों की जरूरत पड़ गई थी। सबेरे-सबेरे जब वह सिगरेट पी लेता, तब उसका कार्य-क्रम शुरू होता था। इधर बारह वर्षों से उसकी इस आदत में कोई

अंतर न पड़ा था। संयोग से उस दिन वह बनियाइन पहनकर ही घर से बाहर निकल पड़ा। रुपए-पैसे क़मीज़ की जेब में छूट गए। पर इस बात का ख़याल उसे तब आया, जब वह पान की दूकान पर जा पहुँचा। उस समय वह बिना तमोली को पैसा दिए पान-सिगरेट नहीं लेना चाहता था। वह सोचता था कि ऐसा न हो, तमोली की खोंटी हो जाय ! तत्काल उसे ख़याल आ गया कि अपनी दूकान तो खुल ही गई है, वहीं चलकर पैसा ले लूँ। यही सोचकर वह तेज़ी से अपनी दूकान पर आ गया। किंतु पैसा माँगने पर दूकान पर बैठनेवाले नौकर ने कहा—बाबू, पैसे तो नहीं हैं।”

त्रिवेणी ने क्रोधित होकर कह दिया—“बेवकूफ़ ! पैसे नहीं हैं, तो पैसे भुनाकर नहीं ला सकता ! गधा कहीं का !!”

नौकर त्रिवेणी के इस व्यवहार को सहन न कर सका। वह दूकान बंद कर केदार के पास दौड़ा चला गया। तब तक घूमकर त्रिवेणी भी वहाँ जा पहुँचा। कली के सामने जो सारी बातें स्पष्ट हुई, तो उसने कह दिया—“जीजाजी, यदि आप बुरा न मानें तो मैं कुछ कहूँ।”

त्रिवेणी बोला—“कहा।”

कली ने कहा—“सबेरे-सबेरे दूकान खोलकर, बिना बोहनी किए, नेट तुड़ाकर पैसे खर्च न करने की बात दूकानदारी के विचार से सर्वथा उचित ही है। यों दूकान आपकी, नौकर आपका। आप इसे चाहे जो सज़ा दीजिए।”

त्रिवेणी यह अपमान सहन न कर सका। आंदोलित होकर बोला—“यह तुम्हारी लुद्रता है कली ! तुम रूढ़ियों की दासी हो, तुम न तो मनुष्य को पहचानती हो, न उसके प्रकृत अधिकार को।

जाओ, आज से मैं इस सारी दौलत को लात मारता हूँ। आज से मैं इस घर में पैर न रखूँगा।”

यह कहकर त्रिवेणी वहाँ से चला आया। केदार ने बहुत समझाया, किंतु किसी भी प्रकार अब वह उसके साथ सहयोग करने को तैयार न हो सका।

दूसरे वर्ष—

कहावत है, पुरुष पारस होता है। त्रिवेणी केदार के घर पारस बनकर आया था। वह जब चला गया, तो अकेला केदार व्यवसाय को संभाल न सका। उसने अपने एक निकट सम्बन्धी को भी बुलाया; किन्तु उसके द्वारा परिस्थिति और भी बिगड़ गई। उसने जी खोलकर श्रम किया। केदार ठहरा सीधा-सादा व्यक्ति, बेचारा उसके विश्वास में पड़कर मारा गया। बढ़े हुए खर्चों को तो वह कम कर न सका, किन्तु आय बराबर घटती गई, और एक दिन ऐसा भी आ गया कि पूँजी के अभाव में केदार को व्यवसाय बन्द कर देना पड़ा।

सुख के दिनों का अनुभव कली ने बहुत थोड़े दिन कर पाया था कि उसे दुःख के दिन देखने पड़े। त्रिवेणी की मूर्ति उसके हृदय-पटल से एक क्षण के न टलती थी। रात-दिन उसके संपर्क में रहते-रहते वह उसका आत्मीय हो गया था। नित्य के वार्तालाप में, विमल मन से, जब वह कली नाम से सम्बोधन करता, तो उसका रोम-रोम बिहँस उठता था। कितने भोले, निर्विकार स्नेह से वह बातें करता था! घंटों बातें-ही-बातें हुआ करतीं, तो भी वह न थकती, न ऊबती। बीच-बीच में, दो-दो, तीन-तीन घंटों के अंतर से ही, चाय, मिठाई, फल और पान-सिगरेट का क्रम कभी भंग ही न होने पाता था। सिनेमा-सरकस, मेला-

प्रदर्शनी से लेकर खान-पान तक तो साथ चलता ही था। गरज कि त्रिवेणी हैले-हैले उसके हृदय-तल में बस गया था। कभी कली को यह सोचने का अवसर ही न मिला कि एक दिन ऐसा भी आ सकता है, जब त्रिवेणी बात-की-बात में उसे छोड़-कर चला जायगा। हाय ! वह यह भी तो न अनुभव करने पाई कि वह उसे कितना चाहने लगी है ! और, उस दिन जब त्रिवेणी उसे त्यागकर चल दिया, तो अभी कल ही जीवन उसके लिये एक स्वप्न बन गया।

किंतु उसे स्वप्न भी कैसे कहा जाय ?

स्वप्न भंग होने पर तुरन्त चेतनता आती है और हम सोच लेते हैं कि चलो, कोई बात नहीं। यह सब तो एक नाटक था, एक कल्पना ; अपने ही आप उठकर छलक पड़ी हुई जल-धारा की-सी एक मछली। पल-भर बाद उसका पता क्या ? निरा स्वप्न ही तो है वह।

किन्तु इस त्रिवेणी को कली स्वप्न कैसे मान ले, जब कि वह अभी कल तक अपना था। वह तो उसकी जान पर आ गया है, उसकी छाती पर सवार है। वह स्वप्न कैसे है ?

नहीं, किसी प्रकार वह स्वप्न नहीं हो सकता। वह तो सत्य है—अमिट सत्य।

देर तक यही सब सोचती हुई कली एक दिन रो पड़ी।

हम प्रायः इस बात का दावा किया करते हैं कि हम बड़े ज्ञानी हैं—दूरदर्शी इतने कि सदा कोसों आगे का पथ देखते हैं, कोई बात हमसे छिपी नहीं रह सकती। किन्तु हाय ! कभी कभी हम कितने भ्रम में रहते हैं कि यह भी नहीं जान पाते कि हम किसी को किस हद तक चाहने लगे हैं।

कली की भी यही गति हुई। वह यह जान ही न सकी कि वह अपने आपको खो रही है। और, आज जब उसके जीवन के अभावों ने उत्थित होकर अपने पैर फैला दिए, तब वह यह सोचती रह गई कि अरे, यह हो क्या गया ! जिस वस्तु की उसने इतनी रक्षा की, आखिरकार उसे एक चोर चुरा ही ले गया। अब ?

कली का रहन-सहन भी अब बदल गया था। कई-कई दिनों तक वह एक ही साड़ी पहने रहती। न साबुन से शरीर मलकर स्नान करती, न केशों में तेल-कंघों का स्पर्श होने देती। खुली, बिखरी, शुष्क कुन्तल-राशि उसके शिथिल गात पर पड़ी रहती ; उसका वस्त्र भी कभी-कभी दिगम्बर बन जाता। किंतु कली अपने इस स्वरूप को जैसे देख ही न पाती थी।

अब कभी-कभी स्वामी के साथ कली की खटपट भी हो जाती। कारण, यह निर्मम दरिद्रता एक दृष्टि से जैसी पापनाशिनी और पुण्यमयी है, दूसरी दृष्टि से उससे भी अधिक कुलटा, कुभाषिणी और कलमुँही भी है। तभी तो केदार में वह पुराना मर्ज फिर उभड़ आया। वह फिर असंगत बातें बकने लगा।

एक दिन त्रिवेणी की बात उठते ही वह आग हो गया। बोल उठा—“तो वही तेरा स्वामी था। मैं कोई नहीं हूँ। मैं तो श्वान हूँ—एक-एक टुकड़े के लिये दूसरों का मुँह ताकने को मजबूर ! आज मालूम हुआ, इस दुर्दशा का तुम्हें दुःख नहीं है। तुम्हें तो त्रिवेणी के वियोग की ही व्यथा है।”

कली ने उस दिन तक के जीवन में कभी केदार के मुँह से ऐसे कटु वचन नहीं सुने थे। वह तो उसे एक सीधा-सादा, सात्त्विक और वरेण्य स्वामी मानती थी। किन्तु अब उसे प्रतीत

उ०—४

हुआ कि वह तो पिशाच है। तभी उसके लम्बे-लम्बे, पैने नखों ने उसका हृत्पिंड तक विदीर्ण कर डाला।

कली उस दिन रो न सकी। दारुण आघात आँसुओं तक का अपहरण कर लेता है।

किन्तु चांडालिनी आपत्तियाँ आखिरकार हैं तो आपस में सगी बहन ही। एकाएक कली अस्वस्थ हो गई और उन्हीं दिनों उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ। कली यह सोचती ही रह गई—काश ऐसे समय त्रिवेणी उसके घर होता, उसके वे स्वर्ण-दिवस होते... ..।

और, दुर्दशा-ग्रस्त काल में पुत्र-जन्म! दैन्य को पाकर, सौख्य-वृद्धि न करके, वह तो और भी अधिक उत्पोंड़क हो उठता है।

केदार की बहन ने आकर किसी प्रकार उस नवजात शिशु का पालन किया। उसकी गोद में एक बच्चा था। वह उसे दूध पिलाती ही थी, इस बच्चे का भी पिलाने लगी। वह उत्तरोत्तर पनपता गया। किन्तु कली की अस्वस्थता उसका शुष्क-प्रशांत मानस पाकर क्रमशः इतना बढ़ गई कि अन्त में केदार को उसके स्वास्थ्य-लाभ के लिये जाना हास्पिटल की शरण लेनी पड़ी।

त्रिवेणी केदार का गृह त्यागकर फिर कानपुर में रह नहीं सका। कलकत्ते में उसके बहनोड़े सूत का व्यापार करते थे। त्रिवेणी कलकत्ता जाकर उन्हीं के साथ रहने लगी।

गिरधार! बाबू थे रिते-घिसे आदमी, सांसारिक अनुभव में ही उनके बाल सफेद हुए थे। दस-पंद्रह दिनों के ही संपर्क से उन्हें त्रिवेणी का यथार्थ परिचय मिल गया। वह यह जान गए कि है तो यह काम का आदमी। व्यवसाय की नीति को समझता ही नहीं, उसकी तह तक पहुँच जाता है। किन्तु अपने इस गुण के

साथ ही उच्छ्रंखल प्रकृति में भी वह कम अग्रसर नहीं। किसी भी दिन नौ-दो ग्यारह हो सकता है। उन्होंने एक दिन—जब दोनों खाना खाकर उठे, पान खाए गए और सिगरेट के दो-दो कश लिए जा चुके—यों ही हँसते-हँसाते कह डाला—“भई, इस तरह नहीं चलेगा। यों चलने को चल भी सकता है, पर मैं यह नहीं चाहता कि एक दिन तुम यहाँ से रफू-चकर हो जाओ और अवसर आने पर किसी से भी कह सको कि इतने दिन मैंने जीजाजी के साथ काम किया, पर पैसे के नाम पर फूटी कौड़ी का भी स्पर्श नहीं किया। यों रहने को यह तुम्हारा घर है, पर घर में भी तो इस तरह काम नहीं चला करता। वेतन के रूप में न सही—क्योंकि तुम मेरे यहाँ नौकरी तो भला क्या करते!—एक सामेदार के रूप में ही सही, मैं तुम्हें बिना एक दमड़ी भी लगाए इस दूकान में पाँच आने की पत्ती देता रहूँगा।”

त्रिवेणी ने बहुत कुछ इधर-उधर किया, किन्तु गिरधारी बाबू, साफ तबियत के आदमी थे, टस से भस न हुए।

इस प्रकार त्रिवेणी के निर्वाह की समस्या तो अपने आप हल हो गई। अब रह गई बात जीवन और उसके भीतर से उमड़ते हुए अभिभोग की।

त्रिवेणी हठी व्यक्ति है, दुस्साहसी एक नंबर का। कोई भी काम वह पलक मारते कर सकता है। वह क्षमा बहुत कम माँगता है। माँगता है, तो उसका आडंबर नहीं रचता। सच्चे हृदय से माँगता है, और फिर तदनु रूप आचार-व्यवहार रखने को चेष्टा भी करता है। किन्तु अपने आप झुककर किसी को क्षमा करना तो वह कतई नहीं जानता। और, उन दशाओं में, जब कि वह जानता है कि उसकी गलती नहीं है, वह अपने प्यारे-से-प्यारे के आगे भी झुक नहीं

सकता। जो प्यारा है, उसके आगे उठना क्या, और झुकना क्या—यह विचार उसके मन में कभी नहीं आया। न कभी इस पर विचार करने का उसे अवसर मिला। अतएव इस विचार से अगर कोई उसे निर्मोही कहना चाहे, तो यह उसकी इच्छा पर निर्भर है। वह चाहे, तो उसे ऐसा कह भी सकता है।

तो इस अर्थ में त्रिवेणी पाषाण से भी अधिक कठोर है।

किन्तु यह त्रिवेणी आज तक का है। आगे का त्रिवेणी कैसा है, ज़रा-सा इसको भी देखा न जाय।

रात को बारह बजे से पहले वह घर नहीं लौटता, और दिन को बारह बजे से पहले घर से निकलता नहीं। बारह से छ बजे तक घनघोर व्यस्तता—दुकानदारी। फिर सिनेमा-थिएटर, ताश-कैरम, गाना-बजाना, नशा-पानी, बहस मुवाहसा और गाली-गलौज।

घर के संबंध में गिरधारी बाबू ने जो कभी पूछ दिया, तो चौकन्ना होकर उनकी ओर स्थिर दृष्टि से देखता और चुप। इच्छा हुई तो कह दिया, मुझे नहीं मालूम; नहीं तो इसकी भी ज़रूरत क्या? बेकार की बात का जैसा कहना, वैसा न कहना। ग़रज़ कि अगर गिरधारी बाबू ने ही लिख दिया कि त्रिवेणी मजे में है, तो उसके माता-पिता भले ही थोड़े निश्चित हो जायँ, अन्यथा वह अपने मन से उन्हें एक शब्द तक नहीं लिखता।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि यह बात क्या है ?

हाँ, है बात। और वह यह कि जो किसी ने कानपुर नगर का नाम भी ले लिया, तो त्रिवेणी का हृत्पिंड घड़ी के पेंडुलम सा डोल उठता है। वे सड़कें, वे मकान, वह पान की दुकान, जहाँ से वह नित्य पान खाता और सिगरेट पीता था; वे गलियाँ, जहाँ से वह निकलता था; वे सिनेमा-हाउसेज़, जहाँ वह कल्लो को साथ लेकर

उसे सिनेमा दिखलाने जाया करता था; वे दूकानदार, जिनसे उसका संबंध रहता था—सबके सब जैसे उसे काटने दौड़ते हैं। वह गिरधारी बाबू के पास लगे हुए कमरे में सोता है। उसकी बहन सुशीला जान गई है कि वह स्वप्न में भी इतना उत्तेजित हो उठता है कि चारपाई से गिर पड़ता है।

वह स्वप्न में प्रायः बर्बाद करता—

“तुम इतना संकोच क्यों करते हो? मुझे तुम्हारे हाथ-पैर दाबने में भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती।... अब समझी, तुमने पागलपन की बातें सोच डाली! राम-राम! ऐसा भी कोई सोचता है।... मैं तुम्हें देवता की भाँति पूजनीय मानती हूँ।..... पर तुमने तो मुझे मार डाला, यह न सोचा कि मैं हिन्दू-नारी हूँ। स्वामी ही मेरा सब कुछ है।”

स्वप्न देखने के अनंतर वह व्याकुलता के साथ उठकर, अतिशय भाव-गर्वित होकर रो पड़ता। सिनेमा देखते-देखते भी कभी-कभी बीच में ही उठ आता। फिर चुपचाप पार्क में, एकांत पाकर जी भर कर ज़ब रो लेता, तब कहीं उसे कुछ संतोष और शांति मिलती।

दूकान में उसके नाम कभी कोई पत्र नहीं आता था। वह खुद भी कभी किसी को कोई पत्र नहीं लिखता। किन्तु तो भी डाक आते समय वह क्षण-भर को सशक्त, आतुर और पता देखते क्षण चरम अधीर हो उठता। कभी-कभी तो पोस्टमैन के हाथ से इतनी जल्दी चिट्ठियाँ पाने को वह लपक जाता कि गिरधारी बाबू ताकते रह जाते। सोचने लगते, क्या बात है कि इस क्षण यह त्रिवेणी बिलकुल बदल जाता है।

वह आजीवन शाकाहारी रहा था। किन्तु अब उसे किसी भी खाद्य और पेय वस्तु से कोई आपत्ति नहीं थी। इस दृष्टि से मानो

स्वीकार-मात्र ही त्रिवेणी का रूप है, और अस्वीकार त्रिवेणी से भिन्ने कोई दूसरी वस्तु हो गई है।

दिन चल रहे हैं और इन दिनों के साथ-साथ त्रिवेणी का स्वास्थ्य भी गिर रहा है। यद्यपि अपने आवास के आदमकद आईने में अपने आप को सदेह देखकर रोज़ ही सोच लेता है कि वह ज्यों-का-त्यों बना है, उसमें कोई परिवर्तन अब तक न हुआ है, न आगे कभी संभव है।

त्रिवेणी ने जीवन को सदा प्यार किया है। किंतु अब मानो उसने एक नया विचार टटोल पाया है। वह मानने लगा है कि मृत्यु भी जीवन का ही एक रूप है। तभी तो वह एकदम निर्भय हो गया है। वह खूब खाता है, खूब गाता है, खूब हँसता है। वह रोता भी है, किंतु रुदन के खाते में वह चोर है—अपराधी; क्योंकि वह उसमें ग़बन करता है।

पागल कहीं का ! ग़बन भी करने चला, तो रुदन-जैसी अशुभ और प्राण-पीड़क वस्तु का।

ऐसा है यह त्रिवेणी ! आशाओं से हीन, आकांक्षाओं से परे, स्वार्थों से मुक्त, व्यथाओं का विजयी और आघातों का विध्वंसक। किंतु यह सब वह सचमुच है कि नहीं, कौन जाने ? हाँ, त्रिवेणी अपने आपको इसी रूप में देख रहा है।

एक दिन त्रिवेणी ने एक स्वप्न देखा। देखा, वह फिर बीमार पड़ गया है, और कली उसके सिर में तेल मल रही है। तेल मलते-मलते उसे कुछ ऐसा प्रतीत हुआ, मानो त्रिवेणी सो गया है। किंतु वास्तव में तब तक वह सोया नहीं था। उसने सो जाने की-सी चेष्टा-भर की थी। कली उठकर जाने को हुई कि सजग होकर त्रिवेणी ने उसका अंचल थाम लिया। वह बोला—कहाँ जाती

हो कली ? जरा देर और बैठो, देखा, अभी मेरे सिर का दर्द नहीं गया ।

कली कहती है—छोड़ो जी मुझे ! तुम्हारे सिर में दर्द-वर्द कहीं कुछ नहीं है । यह सब तुम्हारा बहानेबाजी है—शैतानी ! मैं क्या इतना भी नहीं जानती ?

वह अपने अंचल को पकड़कर बल-पूर्वक खींचती है, और त्रिवेणी उसे छोड़ता नहीं । फलतः वह अंचल उस स्थान पर फट जाता है ।

तब कली वहीं उसे ध्यान से देखती हुई बैठ जाती है । उसकी मुद्रा एकदम विवर्ण हो उठती है । वह अतिशय दुखी होकर कह उठती है—यह तुमने क्या किया जोजा ! मेरा अंचल फट गया ।

उसी दिन पहली ट्रेन से त्रिवेणी ने कानपुर को प्रस्थान कर दिया ।



“ये स्वप्न कोई चीज नहीं है जी ! ये सब मानवात्मा के भावोन्माद-मात्र हैं । पागल मन की चित्रित कल्पनाएँ । कहीं ऐसा भी हो सकता है कि वह……। छिः-छिः, कैसी अशुभ कल्पना !” त्रिवेणी रेल के रास्ते-भर यही सोचता रहा ।

वह सीधा अपने घर गया । कुछ नोट उसने माँ के हाथ पर रख दिए, और बोला—“सौ रुपए-वाले हैं । यहाँ का क्या हाल चाल है ?”

प्रफुल्लित होकर माँ बोली—“चलो, तुम्हें कुछ समझ तो आई । मैं रात-दिन इसी सोच में रहती थी कि मेरा तिरबेनी क्या जाने किस तरह हो ! लेकिन तू कुछ दुबला दिखाई देता है !

खाना सुशीला खुद बनाती थी कि महाराजिन ?...लेकिन मुझे हो क्या गया ? तू भूखा होगा, तुझे पहले कुछ खाने को ताज्जा बना दूँ, तो और बातें करूँ । अच्छा, तू तब तक नहा तो सही । मैं अभी तेरे लिये हलुआ बनाये देती हूँ ।’

माँ का सोया हुआ प्यार उमड़ उठा । हर्षातिरेक से उसकी आँखें भर आई ।

किन्तु त्रिवेणी का वह प्रश्न ज्यों-का त्यों- रह गया । उसे वह बिलकुल भूल गई । तब त्रिवेणी चल खड़ा हुआ; बस, इतना कह कर कि “अभी आया ।”

वह फट से केदार के यहाँ दौड़ गया ।

दूर से ही उसने देखा, द्वार पर एक तरह की शून्यता छाकर रह गई है, जैसे स्मशान का-सा भयानक सन्नाटा हो । द्वार के निकट पहुँचा, तो उसे भीतर से बन्द पाया । कुंडी खटखटाई, तो भीतर से एक अपरिचित-सा स्वर मिला—“कौन है ?...दहा घर में नहीं है ।”

त्रिवेणी बोला—“एक बात सुन जाना ।”

उत्तर—“पहले यह बतलाओ, तुम हो कौन ? मैं घर में अकेली हूँ, और बच्चा सो रहा है ।”

“मैं हूँ त्रिवेणी । कलकत्ते से आ रहा हूँ ।”

“अच्छा, मैंने अब जाना । बच्चा होने के बाद से भाभी सख्त बीमार हैं और अस्पताल में हैं । दादा भी वहीं हैं ।...बैठना चाहो, तो आके किवाड़ खोल दूँ ।”

त्रिवेणी प्रकंपित हो उठा । लौटा, तो पैर भारी हो गए । फिर साहस सृजन कर जल्दी से चल पड़ा । इक्का पाते ही उस पर बैठकर इक्केवान से बोला—“जनाना अस्पताल ।”

उस क्वार्टर में सबसे पहले उसे केदार नज़र आया—रूखे-बिखरे केश, गड्ढों में धँसी, कुछ-कुछ लाल, उनीदी आँख और मलिन वस्त्र नज़र मिलते ही बोला—“कैसी तबियत है?”

केदार रो पड़ा। बोला—“अब तबियत पूछने आए हो?”

उसके मन में आया कि कह दे ज़िद्दी, महज़ एक ज़रा-सी बात पर मरनेवाले, नृशंस और हृदय-हानि! किन्तु मालूम नहीं, क्यों वह इस बात को निगल गया।

त्रिवेणी ने देखा, वह एक मामूली चारपाई पर लेटी हुई है। न वह सुमन-शोभन मुख है, न वह कामल, मासल देह-यष्टि। उसे तब वही स्पन्द याद आ गया—तुमने यह क्या किया जाँजा! मेरा अंचल फट गया।

केदार भी तब तक पास आ गया।

त्रिवेणी ने उसे भी एक नोट देकर कहा—“यह लो खर्च के लिये, और तुरन्त सिविल सर्जन को तो ले आओ।”

केदार आज्ञाकारी की भाँति चल दिया। इधर बहुत दिनों से सौ रुपए का नोट उसके हाथ नहीं आया था। उसे उलट-पलट कर वह मन-ही-मन सोचता रहा—

एक त्रिवेणी है, संपत्ति जिसकी चेरी है, और एक मैं हूँ, जिसके पास इतना भी पैसा नहीं कि कली के लिये जी खोलकर कुछ कर सकता, जब कि मैं उसका स्वामी हूँ, और वह...!

हाँ, त्रिवेणी भी उसका है। नहीं तो इस समय अकस्मात् आ कैसे मिलता?

अच्छा, यह भी माना कि कली के योग्य मैं न था, इसलिये वह मुझे त्यागकर चली जा रही है। किन्तु, किन्तु त्रिवेणी तो

उसके योग्य है। तब उसी के लिये वह क्यों नहीं जीवित रहती। मेरे लिये न सहो, उसी के लिये सही।

किन्तु त्रिवेणी ? अः ! वह तो तीर्थे सलिल है ! उसके लिये उस प्रकार कुछ सोचना भी पाप है !

केदार यही सब सोचता हुआ मिविल सर्जन के यहाँ जा रहा है। उसे आशा हुई कि कली को वह फिर प्राप्त कर लेगा। वह जाने न पाएगी। नहीं तो यह त्रिवेणी ऐसे समय क्यों आ जाता।



“रोओ मत कली, राने मे तो तुम्हारा जीवन और भी खतरे में पड़ेगा।

“आह ! कैसा जीवन जाँजा ! तुम अब मेरे जीवन को देखना चाहते हो।”

“हाँ, कली ! मैं तुम्हें स्वस्थ और सुखी देखना चाहता हूँ।”

“स्वप्न है।”

त्रिवेणी ने अपने आपको बहुत रोक रक्खा था। उसे विश्वास था कि वह अंत तक अपने को संयत रख सकेगा, किन्तु अब वह अपने को न संभाल सका। उसका कंठ भर आया। आँखों से आँसू निकलकर कर्श पर टपकने लगे।

धीरे-धीरे कली बोली—“मैं जानता थी, तुम आओगे। मुझे कुछ इस तरह की आशा हो गई थी। तुम्हें देखने की मेरी बड़ी लालसा भी थी। किसी से कुछ भी कह नहीं सकती थी। कैसे तुम्हें खबर पहुँचाती ? कैसे तुम्हें बुलवाती ? लेकिन वह अंतर्धामी जो हैं। तुम आप-ही-आप आ गए ! अब मैं सुख से मरूँगी।”

त्रिवेणी की आँखें भरी ही रहीं। कली की बात का एक-एक शब्द उसके प्राणों से लिपट जाता, और वह फूटकर रो पड़ता। रुदन के उवार में उसका साँस ही पूरी न होती थी।

कली बोली “तुम जो इस तरह रोए, तो मैं अपने जी की कसक भी न निकाल पाऊँगी।”

त्रिवेणी ने तब आँसू पोछते हुए, रुद्ध कंठ से कहा—“तो अब तुम चुप रहो कली!”

वह कुछ उच्छेजित-सी हो उठी। बोली—“कैसे चुप रहूँ? घुल-घुलकर ही तो मैं इस दशा को प्राप्त हुई। चलते-चलाते जी का दो बातें भी न करूँ, अब यह नहीं हो सकता।...हाँ, तो मैं कुछ भ्रम में थी जीजा! मैं नहीं जानती थी, तुम मेरे इतने निकट पहुँच गए हो। जब तुम चले गए, तब मेरी आँखें खुली। मुझे अनुभव हुआ कि मैं अपने आपको गलत समझी थीं... याद है उस दिन की बातें, जब तुमने मुझसे क्षमा माँगी थी?”

“उस दिन की याद मत दिलाओ कली!” त्रिवेणी मर्महत होकर बोला।

कली तब और भी भाव गर्वित हो उठी। उस क्षण मालूम नहीं, बोलने की ऐसी अद्भुत शक्ति उसमें कहाँ से आ गई थी। वह बोली—“क्यों न याद दिलाऊँ? वही दिन तो मेरे जीवन का सबसे सुन्दर दिन—जैसे सोने का दिन था। उस दिन को मैं भुला न सकी, किसी तरह न भुला सकी। तुमने जो अपना प्रेम-भाव प्रकट किया, तो मैंने अपने आदर्श के अनुसार तुम्हें तीखा उत्तर दिया। मैं तब सती-धर्म की अभिमानिनी जो थी और जब तुमने क्षमा माँग ली, तब तो मैं गर्व से जैसे फूल उठी। मैंने समझा, वह मेरी जीत है। किन्तु आगे चलकर जब तुमने अपने यथाथ रूप

का परिचय दिया, तब मैं तुम्हारे लिये तरस गई। मालूम नहीं, मैंने कितनी रातें तार गिन-गिनकर, करवटें बदल-बदलकर बिता दी। आखिरकार वह भी समझ गए, और एक दिन खुल पड़े। अब मैं उनके हृदयासन से भी वंचित हो गई, मैं कहीं की न रही। तब मुझे अनुभव हुआ कि यह मेरी हार है।”

कली बातें करते-करते अतिशय थक गई थी। उसके भाल और मुख के साथ-साथ समस्त शरीर में पसीने की लहर-सी दौड़ गई। त्रिवेणी ने एक मुलायम चहर से उसकी देह-भर को पोंछ दिया। उसे प्रतीत हुआ कि उबर उतार पर है; क्योंकि उस समय उसका वदन कुछ अधिक गरम नहीं प्रतीत हो रहा था।

कुछ स्थिर, किन्तु चेतन होकर कली बोली— ‘मैं नहीं जानती धर्म क्या चीज है; मैं यह भी नहीं जानती कि पाप क्या चीज है; किन्तु मैं इतना जान सकी कि प्रेम क्या चीज है! उस दिन जिम भाव के लिये तुमने मुझसे क्षमा चाही थी, आज उसी भाव के लिये मैं तुमसे क्षमा चाहती हूँ। आह! यहाँ बड़ा दर्द हो उठा! हाँ, यहाँ!’

कली ने एक हाथ हृदय पर रखकर दूसरे से संकेत किया। त्रिवेणी ने तदनुसार उसके हृदय-स्थल को स्पर्श करके यह जानना चाहा कि दर्द कहाँ है। किन्तु क्षण-भर में ही उसे बोध हुआ कि कहीं कुछ भी शेष नहीं है सभी कुछ समाप्त हो चुका है। शेष है भी, तो केवल होठों पर मंद हास और नयनों में चिर अनुरजित अनुरक्ति!

कली का शान्ति-संस्कार कर देने के बाद एक दिन केदार मालूम नहीं, वहाँ चला गया। फिर उसका कहीं कोई पता ही न चल सका। उसका पुत्र यह गोपाल-भर रह गया है।



और त्रिवेणी ने तब गोपाल को पुनः अपने निकट बुलाकर उससे कह दिया—“आज तुमने मुझसे पैसे माँगे, सो माँगे, पर अब कभी न माँगना। पिताजी नेत्रों से हीन हो गए, और मैं भी बहुत दिनों से बेकार हूँ। कभी-कभी मेरे पास सिगरेट पीने को भी पैसे नहीं रह जाते ! कभी माँग उठने पर जो मेरे पास दो पैसे भी न निकले, तो !”

महापुरुष

कचहरी में बैठा हूँ—नाज़िरात में। ऐसा ही कुछ काम आ गया है। यों काम चाहे न भी लगे, पर कभी-कभी जब मैं स्वयं ऐसे काम में खुद लग जाता हूँ, तो चारा क्या है? जीवन में तृष्णा है और तृष्णा में द्वन्द्व। और फिर द्वन्द्व ही जीवन है।

हाँ, तो मैंने कहा न कि मैं नाज़िरात में बैठा हूँ। कुछ सोच रहा हूँ और देख रहा हूँ। सोच सोचकर देखता हूँ और देख देखकर सोचता हूँ। विविध प्रकार के चित्र सामने आ जा रहे हैं।

एक वकील साहिब पैंट में हाथ डाले हुए जा रहे हैं। गति उनकी मन्द है। कोट की बाहरी जेब में मोड़कर रक्खा हुआ चश्मा भलक रहा है। साइकिल पर आये हैं और पैंट के निम्न भाग को मोड़कर जो क्लिप लगाया जाता है, वह अभी तक ज्यों का त्यों लगा हुआ है। उस ओर वकील साहिब का ध्यान नहीं गया है। ध्यान जाये भी क्यों? उसकी ज़रूरत? सिर के बाल सफेद हो गये हैं। पूरे तो नहीं, अधिकांश। लेकिन इससे क्या, बालों की सफेदी कोई चीज़ नहीं होती। दिल जिसका उज्ज्वल है क्या उसके बाल कभी सफेद हो सकते हैं? हो भी जायें, तो उनका मूल्य क्या? शरीर की वृद्धता हमारा करेगी क्या? असल चीज़ मन है। और वकील साहिब ने जेब में हाथ डालकर देखा, नोट कहीं गायब तो वहीं हो गये। तभी उन्हें निकाल कर गिनने लगे एक दो, तीन ठीक तो है। दस-दस रुपये के तीन नोट हैं और सुरक्षित हैं। फिर दूसरे हाथ से बाहरी जेब में से चश्मा निकालना चाहा। ज़रा सा ऊपर को उठाया भी, किन्तु फिर जहाँ का तहाँ रख दिया और

बढ़ चले। किन्तु आगे चलकर फिर लौट पड़े। शायद कोई चीज़ भूल गये हैं।

इसी क्षण एक दूसरे माहब दीख पड़े। खसखसी दाढ़ी है आपकी। बाल अभी सफ़ेद नहीं हुए हैं। लेकिन इच्छा उनकी ऐसी ही जान पड़ती है। गौर वर्ण है। सिर पर गोल, सफ़ेद मारकीन की टोपी है। पायजामा कुछ ऊँचा, पैरों के गर्द-गुबार से सर्वथा निश्चिन्त। हाथी-कान का पुराने ढब का जूता पहने हुए हैं। शरीर अचकन से चिपका हुआ है, या अचकन ही शरीर से चिपक गई है, कौन जाने? इस विषय पर मैं बहस नहीं करना चाहता। आप चाहें जो समझ लें, मुझे आपत्ति नहीं। हाँ तो मैं आगे बढ़ता हूँ। बाईं ओर एक दुनाई बगल से दबाये हुए है और उसके नीचे चारखाने का एक डस्टर लटक रहा है। दायें हाथ में टोंटीदार एक लोटा भी है। प्रतीत होता है कि आप इसी वक्त देहात से चले आ रहे हैं।

मैं बाहर आ गया था। जाड़े की धूप खड़ी-खड़ी खिलखिला रही थी।

उन्होंने तपाक से आदाब अर्ज किया, तो अपरिचय के कारण मैं क्षण भर उन्हें देखता रह गया। उत्तर में मैंने 'तपलीम अर्ज' तो किया लेकिन ज़रा सा ठहर कर।

वे बोले—क्यों भाई जान, बाबू चन्द्रप्रकाश साहब वकील किधर तशरीफ़ रखते हैं?

मैंने कहा—जान पड़ता है कचहरी में आप शायद पहली ही बार आये हैं।

'जी, आप बहुत बजा फ़रमाते हैं। मैं तो कम्बख़्ती का मारा आ भी गया, मगर क्रसम कुगान की, जो इसमें एक हरफ़ भी भूठ हो—मेरे पुरखा तो इससे कोसों दूर रहा करते थे।'

‘यह तो नाज़िरता है, मुन्शी जी। यहाँ वकील लोग नहीं बैठते। वे लोग अधिकांश या तो पच्छिम की ओर बैठते हैं, वहाँ उनके अलग-अलग कमरे भी हैं। या फिर उस चौरासी गजे वाली धर्म-शाला में जिधर से आप आ रहे हैं।’

‘अच्छा, तो आप को जो तकलीफ दी, उसके लिए माफ़ कीजियेगा। हुजूर का दौलतखाना?’

‘भैं! मैं तो परदेसी आदमी हूँ, यहाँ ऐसे ही आ गया। (इस) गरीब का घर कानपुर जिले में है।’

‘तभी। तभी तो मुझे ताज्जुब हो रहा था कि ऐसी सुलफी हुई जबान यहाँ इलाहाबाद में कहाँ से आयेगी! अच्छा, इजाजत चाहता हूँ—आदाबर्ज।’

वे चले गये।

चले तो गये, लेकिन आगे बढ़कर, जो साहब उनके सामने आये, उनसे भी उन्होंने यही प्रश्न किया—क्यों भाई जान, बाबू चन्दरपरकाश वकील.....?

‘मैं बाबू चन्दरपरकाश का मुहर्रिर हूँ कि मुअकिल, जो उनके पीछे पीछे घूमता होऊँ।

ऊपर से नीचे तक अंगरेज़ी वेष-भूषा में आवृत हैं। सरदी में सताये हुए कभी-कभी सी-सी करने लगते हैं। हवा जो चल रही है। हाथ पर हाथ रगड़ रहे हैं। मुन्शी जी के प्रश्न पर ज़रा देर ठहरे और फिर चल दिये और खीज उठे। बोले—अजीब देहाती आदमी मिल जाते हैं!

ये साहिब एक बैरिस्टर हैं। अपने एक मित्र से पूछकर मैं अभी जान सका हूँ। ककश बहुत हैं आप, प्रायः कहा करते हैं—

दुनिया में जितने भी महापुरुष हुए हैं, सब इसी तरह के थे। लोग बात करना तो दूर रहा, उनके सामने होकर निकलने से भी काँपते हैं। आतङ्क वह चीज़ है कि मोची को मंत्री तक बना सकता है।

मेरा काम हो चुका है। बस, मुझे किसी तरह यहाँ चार बजा देने हैं। और अपने मित्र राजेश्वर के साथ चला जाना है। इसी नाजिरात में वह क्लर्क है। मैंने सोचा—जरा सा घूम ही लूँ। ऐसा सजीव बायस्कोप भला और कहाँ देखने को मिलेगा !

एक-एक करके कई इजलासों में घूम आया। कहीं कोई परिचित व्यक्ति नहीं देख पड़ा। न मुन्शी जी ही देख पड़े, न वे वकील साहब—न वे भावी महापुरुष। और मैं सोचता यही हूँ कि इन्हीं लोगों में से कोई मिल जाता तो अच्छा होता। वकील साहब को केवल थोड़ी देर देखना चाहता हूँ बैरिस्टर साहब से उलझ पड़ने को मन है, और मुन्शी जी से मिलकर उनकी बातें सुनने की लालसा है।

एक ओर पीपल के पेड़-तले धूप से लिपटा हुआ मैं चुपचाप खड़ा हुआ था कि राजेश्वर ने आफिस से बाहर आकर कहा—चलो तुमको घुमा लायें। यहाँ खड़े-खड़े अकेले में तुम्हारा जी ऊब रहा होगा.....अरे सुनो महाराज, कोई ताज़ी गरम चीज़ भी बनाई है ?

‘समोसे बन रहे हैं। पाव भर ले आऊँ ?’

‘और कोई मीठी चीज़ ?’

‘बरफी बहुत बढ़िया है।’

‘दोनों आध-आध पाव। लेकिन यहाँ मत लाना। कोई.....। चलो वहीं चलें। तीन बज गया। भूख जग उठी है। काम में तबीयत नहीं लग रही थी।’ कहते हुए मेरे कन्धे पर हाथ रखकर

राजेश्वर चल दिया। हम लोग अभी महाराज के पास पहुँच भी न पाये थे कि दिखलाई पड़े मुन्शी जी। राजेश्वर का साथ छोड़कर मैं तुरन्त उधर बढ़ गया। राजेश्वर पूछता ही रह गया—अरे कहाँ जाते हो? कुछ खाये तो जाओ। लेकिन मुझे तो इस समय दूसरी ही खुराक चाहिये थी।

निकट पहुँचते ही मैंने पूछा—कहिए, भेंट हुई?

कहाँ हो सकी! वे अपने अपने स्थान पर भी नहीं मिले। यहीं कहीं होंगे—उनके मुन्शी जी कह रहे हैं।

‘उनको आप पहचानते हैं?’

‘यही तो मुसीबत है।’

‘तो उनके मुन्शी से क्यों नहीं कहा कि उनसे मिला दें।’

‘कहना चाहता था, लेकिन कहता कैसे? हो सकता है कि इस के लिये भी वह कोई सवाल कर बैठता। आप को तो मालूम ही है कि यहाँ बिना पैसे के कोई काम नहीं होता।’

‘लेकिन यह तो उसी का फर्ज था। इसमें पैसे की कौन बात थी?’

‘फर्ज क्या चीज़ है और किस वक्त पर, किस ओर से वह शुरू हुआ करता है, इसका फ़ैसला भी तो यही लोग, सुना है, कि अपने आप कर लिया करते हैं।’

‘चलिए, मैं आप के संग चलता हूँ। उनके मुन्शी को एक ऐसी डपट बताता हूँ कि वह भी याद करे। यह भी नहीं सोचा कि जिनसे काम निकलता है, उनकी सुगमता की ओर भी तो ज़रा ध्यान देना होता है!’

मैं मुन्शी जी के साथ चल दिया।

चलते-चलते मैंने पूछा—आप किस काम से आये हैं ?

एक रुक्के की नालिश करनी है। रुपये की अवधि पूरी हुई जाती है। दोस्तों ने कहा—डिग्री करवा लो। पीछे वसूल होने का मौक़ा तो रहेगा।’

‘आसामी की हैसियत क्या है ?’ मैंने पूछा।

‘हैसियत की बात न पूछिए। एक जोड़ी बैल की खेती करता है। जिस वक्त रुपया दिया था, काफ़ी खुशहाल था। अब वह बात तो नहीं रही, लेकिन देना चाहता, तो थोड़ा-थोड़ा करके दे भी सकता था।’ वे बोले।

‘कभी आपने तगादा भी किया ?’

‘तगादा ! तगादा करना मैंने उचित नहीं समझा। बहुत सीधा आदमी है। चचा-चचा कहते उसकी ज़बान से फूल फ़ड़ते हैं।’

मैं चुप रह गया। ‘तगादा उन्होंने कभी किया नहीं। आदमी भी वह बहुत सीधा है, और देना चाहता तो थोड़ा-थोड़ा करके दे भी सकता था। आखिर इसका मतलब क्या है।’ सोचते हुए मैंने उनकी ओर देखा। बड़े परेशान नज़र आ रहे थे। मुद्रा पर उद्दाम अनुशोचन स्पष्ट झलक रहा था। बोले—मेरा मतलब उसे परेशान करना नहीं है। मैं तो केवल क़ायदे की कारवाई करने चला आया हूँ। मुझे डिग्री इजरा नहीं करनी है। लेकिन मनुष्य का जीवन तो केवल फ़र्ज को लेकर ही है न ? आपने मेरा मतलब समझा कि नहीं ?

अब हम लोग बाबू चन्द्रपरकाश के कमरे में थे। मुन्शी बोला—बाबू साहब आते ही होंगे। आप नाहक परेशान हो रहे हैं। तशरीफ़ रखिये।

वे ज़मीन से बिछे हुए टाट पर बैठ गये ।

मैंने देखा, दुलाई और लोटा एक जगह कोने में बदस्तूर रक्खा है, तो पूछ दिया—आप खाना खा चुके कि नहीं ?

‘खाना तो आजकल शाम को ही मिलता है, क्योंकि रमजान के दिन हैं ।’ कहते हुए यकायक उनके मुख पर सात्विक दृढ़ता का अकृत्रिम उल्लास मुखरित हो उठा । अब मैंने सोचा राजेश्वर क्या कहता होगा ।

और तब—

राजेश्वर ? वह भूखा है, क्योंकि उसने नौ बजे खाना खाया है और क्योंकि समोसे ताजे बन रहे हैं ।

और मुन्शी जी देहात से दस मील पैदल आये हैं । और उनके भूखे मुख पर रमजान का मृदुल प्यार आलोकित हो रहा है ।

मुहरिंर से कहा—

‘क्यों मुन्शी जी, इसी तरह से आप अपने वकील साहब के साथ अपना कर्तव्य पूरा करते हैं । ये वकील साहब से मिलने के लिये कितने उत्सुक हैं, आपको कदाचित् इसका ज्ञान भी हो चुका है । इनका काम आवश्यक भी हो सकता है, यह भी आप सोच सकते हैं, तो भी आप इनको तुरन्त उनसे मिला देने की आवश्यकता नहीं समझते । क्यों ?’

तुरन्त उत्तर—

‘मैं एक और ज़रूरी काम में लगा हुआ था ।.....चलिये आप मेरे साथ चले चलिये ।’ उधर से वकील साहब आ रहे थे । बहुत परेशान से दीख पड़े । मुख पर हवाईयाँ उड़ रही थीं । अपने मुन्शी को देखते ही बोले—वे तीनों नोट मालूम नहीं कहाँ गिर पड़े ।

‘नोट गिर पड़े ।’ चकित मुद्रा से मुन्शी बोला ।

‘क्या कहा आपने ? नोट गिर पड़े । कितने के नोट थे ? कब, कहाँ गिर पड़े ?’ मौलाना ने पूछ दिया ।

वकील साहब अप्रतिभ तो थे, किन्तु मौलाना के प्रश्न पर ‘किस वक्त, कहाँ गिर पड़े’ उनके होठों पर क्षणिक हास उदय होकर अस्त हो गया । नोट कहाँ गिर पड़े हैं, यह भी क्या उनके ज्ञान की बात है ?

खैर साहब, हब सब वकील साहब के कमरे में आकर बैठ गये ।

मुन्शी बोला—बतलाइए, कहाँ खोजूँ ?

वकील साहब बोले—खोजने की जरूरत नहीं है । सुबह से ही मुझे डर लग रहा था कहीं गिर न पड़े । वही बात हुई । उसी जेब में और भी कई कागज़ पत्र थे । कई बार उनको निकालने की आवश्यकता पड़ी थी । किसी वक्त वे नोट भी साथ ही निकल कर गिर पड़े होंगे । अब क्या हो सकता है जो चीज़ जाने वाली है उसके जाने का आश्चर्य क्या ? (मुन्शी से बोले) जाओ, मैं चैक देता हूँ । बैंक से रुपया ले आओ ।

‘लेकिन अब तो सवा तीन हो रहा है !’ मुन्शी बोला ।

‘तो त्रिवेणी बाबू की नालिश आज भी रह गई ।’ कहते हुए चन्द्रप्रकाश उनकी फ़ायल देखने लगे ।

मैंने कहा—ये मौलाना बड़ी देर से आपको खोज रहे थे । देहात से आये हैं । इनको आप से ज़रूरी काम है । उचित होगा, आप इनकी बात भी सुन लें ।

‘मेरा काम ऐसा नहीं है कि उसे आज ही कर डालने की ज़रूरत हो। आप इतमीनान से अपने कागजात देख लीजिये। यों ही मुझे वापिस नहीं जाना है। मकान पर सारा मामला समझा दूँगा। यहाँ आप को परेशानी भी हो सकती है।’ कहकर संकेत से मौलाना मुझे लेकर बाहर आ गये।

हम लोग फिर बाहर धूप में आकर खड़े हो गये।

मौलाना बोले—मुझे कुछ शक हो रहा है। कहिए कहीं, कहिए न कहीं ?

‘कहिए, कहिए ! न कहने की बात हो, तो भी तबीयत हो तो कह डालिए।’ मैंने कहा।

‘एक साहब से मैंने इन वकील साहब का पता पूछा था। वे ज़रा बिगड़े दिल थे, बड़बड़ा उठे। मैं उनकी शकल देखता रह गया। उसके बाद इन वकील साहब को खोजने के सिलसिले में मैं जो इधर-उधर घूमता फिरा, तो वे साहब एक जगह पड़े हुए कुछ कागजात उठाते हुए दीख पड़े। मैंने समझा—उनके होंगे। लेकिन....।’

इसी ‘लेकिन’ के साथ उनका वक्तव्य स्थिर होकर रह गया। मैं उस समय उनसे कुछ कह नहीं सका। सन्देह अन्ततः सन्देह ही है। उसका अस्तित्व क्या ? बहुतेरी निराधार बातें मानस पर आ-आकर तैरती हैं। क्षण-क्षण पर हमारे अनेक प्रश्नोत्तर उत्थित-विनष्ट होते रहते हैं। मैं कैसे कहूँ कि बैरिस्टर ऐसा काम कर सकता है !

उसी क्षण राजेश्वर ने देख लिया। दूर से ही बोला—विचित्र सनकी आदमी हो। मैं बुलाता ही रह गया और तुमने ध्यान नहीं दिया। महाराज के यहाँ भी मैंने प्रतीक्षा की लेकिन तुम बेकार यहाँ

खड़े-खड़े मौलाना का वक्तू खराब कर रहे हो। यहाँ आये ही थे, तो कोई कौजदारी का मामला देखते, कहानी के लिये कोई चीज ही मिलती। लेकिन तुम ठहरे एक नम्बर के चुगाद !... ..आओ, चलो इधर। मौलाना साहब, क्षमा कीजिएगा।

बाँह में हाथ डाल कर राजेश्वर ने मुझे अपने साथ कर लिया। मैंने और उपाय न देखकर मौलाना से कह दिया—आप वकील साहब के यहाँ तशरीफ़ रखें। मैं अभी आता हूँ।

राजेश्वर बोला—यानी इन मौलाना को तुमने क्यों फाँस रक्खा है ? इनसे तुम्हारी कब की दोस्ती है कभी इनके घर भी गये हो ?

ये मुझे नहीं जानते, लेकिन मैं इनसे परिचित हूँ।

‘मनुष्य की कुछ इज्जत करना सीखो’ मैंने जलकर कहा।

‘ओह ! यह कहो कि बिहारी बाबू न होकर तुम कोई महात्मा हो—देवता ! सातवें आकाश से बोल रहे हो ! अरे ज़मीन पर चलो, मियाँ, ज़मीन पर।’

‘अच्छा तो मुझे जाने दो। मैं इस तरह.....मुझे यह तरीका.....तुम्हें शर्म आनी चाहिए।’

उसे बरबस छोड़ कर मैं भागने लगा, तो वह एकदम से प्रतिहत होकर बोल उठा—

‘माफ़ करो बिहारी बाबू !’

क्षण भर तक हम दोनों मौन रहे।

राजेश्वर बोला—तुम नहीं जानते, मैं तुम्हारी कितनी इज्जत करता हूँ। लेकिन मैं करूँ क्या, मैं अगर इस तरह से न रहूँ, तो यह क्लर्की मेरा प्राण लेकर दम ले। तुम जानते हो, आदमी मशीन तो नहीं बन सकता।

मैं अब भी चुप रहा ।

‘कुछ खा लो तो मैं निश्चिन्त होकर अपने काम में लगूँ । तुमने मेरे साथ ही खाया था । मैं कुछ खा भी चुका, पर तुम.....तुमकी भूख लगी होगी ।’ वह बोला ।

‘अच्छा, मैं ज़रा मौलाना से मिल आऊँ । अभी आता हूँ । खाना तो अब मैं तुम्हारे घर पर ही खाऊँगा । तुम ठीक चार बजे तो मेरे साथ चल दोगे न ।’

‘चार बजे ! चार बजे तो नाजिर जी भी नहीं उठते । अच्छा, आज उनसे कहकर कुछ पहले ही चला चलूँगा ।’

मैं मौलाना के पास चल दिया । वे अभी तक वहीं खड़े-खड़े मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे । मैं जो उनके निकट पहुँचा तो वे बोले—अब मैं लौट जाना चाहता हूँ, पण्डित जी । मैं नाहक आया । रुपया वसूल हो, चाहे न हो । मैं उस आसामी पर नालिश नहीं कर सकता । वह जब मुझ से चचा कहकर बात करेगा, तो उसके सामने मेरी आँखें लच जायेंगी । थोड़े से रुपये के लिये मैं अपनी ही नज़रों से गिरना नहीं चाहता । और रुपया भी, मेरा खयाल है, अगर मैं तगादा करूँ तो वह दे देगा ।

उन्होंने इन शब्दों के साथ अपना हाथ बढ़ा दिया । फिर हाथ मिलाते हुए वे बोले—आप से मिलकर खुशी हुई । क्या आप कभी मेरे गरीबखाने पर आ सकते हैं ? मैं उनकी ज्योतिर्मयी मुद्रा को ही देखता रह गया । कुछ कह नहीं सका । वे बोले—आप जैसा कोई भी आदमी मेरी नज़रों से अभी तक नहीं गुज़रा था और मैं तो कभी खयाल में भी न ला सकता था कि ऐसी जगह में आप जैसे लोग भी मिल सकते हैं ।

अब मुझसे चुप नहीं रहा जा सका । मैंने कहा—मैं नहीं जानता, किस तरह आपको धन्यवाद दूँ ?

मौलाना से बिदा लेकर फिर मैं फौजदारी अदालत की ओर जा निकला । बराण्डे में खड़े-खड़े वही बैरिस्टर साहब अपने किसी साथी से कह रहे थे—उल्लू हो तुम !—चाँस खोते हो । चाँस खोने वाला आदमी कभी उन्नति नहीं कर सकता । तुमको यह सुनके आश्चर्य होगा कि आज एक मिनट में मैंने तीस रुपये पैदा किये ।

व्रत-भङ्ग

मेरे सुनहले दिन हैं। कचहरी से घर आते हुए बड़ा अच्छा लगता है। सोचता हूँ—“माया प्रतीक्षा कर रही होगी। दुमंजिले की खिड़की से देखती होगी, अब आए कि अब आए। घर पहुँचने का रास्ता एक ठहरा। नहीं तो अगर किसी दूसरे रास्ते से आकर घर जा पहुँचूँ और नीचे के अपने बैठके में बैठ रहूँ तो बड़ा मजा आ जाय। माया मुझे आता हुआ देख ही न सके, खिड़की से भाँकती ही रह जाय। फिर जब निराश हो जाय और निश्चय रूप से यह विश्वास कर ले कि कोई विशेष काम लग गया है, इसी कारण नहीं आए, तब नीचे आ जाय और तत्क्षण मुझे बैठके में देखकर कह उठे—“अरे! तुम तो यहाँ बैठे हो! मैं तुम्हारी प्रतीक्षा में, ऊपर के कमरे में, घंटे भर से खड़ी हूँ और तुम चुपचाप आ गए। बोलो, आ कैसे गए?” और तब उसके मुख पर आह्लाद और भोली जिज्ञासा थिरक उठे। वह जरा सा मुस्करा दे, उसकी अमल धवल दंतावली झलक उठे, उसके अमोल कपोल दोनों ओर जरा, जरा-सा फैलाकर गड्ढे बना लें और तब उसे बताता रह जाऊँ। यही जी मैं आए, उसे देखता ही रहूँ।

अब तुम्हीं सोच देखो, ये मेरे कितने अच्छे दिन हैं।

अच्छा, सुनो एक दिन की बात। उस बात में कुछ सार नहीं है, तो भी वह मुझे अच्छी बहुत ऊँची, बहुत ही प्यारी प्रतीत हुई। वह मेरी पगली रानी बड़ी ढीठ है। कचहरी से लौटकर बैठके में पैर रक्खा ही था। मोजे उतार रहा था। गरमी अभी कम नहीं हुई थी। बाहर जोर की लू चल रही थी। कमरे में खस की

टट्टियाँ लगी हुई हैं ही। कमरे के बाहर एक ओर एक लड़का पंखा खींच रहा। वह जलपान के लिए तश्तरी में कुछ मिष्टान्न ले आई। उस पंखा खींचने वाले लड़के से बोली—जा, बाजार से दो पैसे की बरफ तो ले आ। बरफ लेने चला गया, तो पंखा बन्द हो गया। तब वह अपने हाथ से ताड़ का छोटा सा पंखा लेकर मेरे ऊपर झलने लगी। एक क्षण तो मैं उसकी ओर देखता ही रह गया। मैंने मना किया, तो बोली—वाह, तुम भी बड़ी वैसी तबियत रखते हो! मुझे पंखा झलने से मना करते हो। क्या तुम समझते हो कि मैं इस तरह तुम्हारी खुशामद कर रही हूँ? यह न समझना कि किसी चीज़ के लिए फरमायश पेश करने के इरादे से मैं ऐसा कर रही हूँ। इसमें एक भेद की बात है। और तुम ठहरे पुरुष जन्तु भला उसे क्यों समझने लगे? यह तो नारी ही समझ सकती है।

मैंने पूछा—वह भेद की बात क्या है? ज़रा मैं भी तो सुनूँ।

“अब उसे टाल जाओ, वह तुम्हारे जानने की नहीं है।” कहकर उसने जरा सा हँस दिया।

मैंने कहा—यह अच्छी रही; न बतलाना था तो उसकी चर्चा ही क्यों की? यह नहीं होगा; अब तो बतलाना ही पड़ेगा।

“जाओ, मैं ऐसे बतलाने वाली नहीं। यह भी क्या कोई ऐसी साधारण बात है, जो यों ही बतला दी जाय।” उसने कहा और वह खिलखिलाकर हँसने लगी। उसके इयरिंग डोलने लगे।

“तो किस तरह बतलाओगी, मैं यह भी तो जानूँ।” मैंने हँसी की हँसी में कहा।

“कुछ नहीं, मैं तो यों ही हँसी कर रही थी।” कहते-कहते वह गंभीर हो गई। फिर थोड़ा रुककर कहने लगी—“नारी के

भीतर भगवान् ने जो हृदय-पिण्ड बनाया है, उसकी गति बड़ी विचित्र है। यही लो, तुम जो बात पूछना चाहते हो, वह कोई विशेष महत्व की बात नहीं है ! तो भी मेरे लिए उसका महत्व है। लेकिन जो कहो कि उसे बतलाने में हर्ज हो क्या है, तो इसके उत्तर में कहना तो यही पड़ेगा कि हर्ज तो कुछ भी नहीं है। परन्तु फिर भी उसका महत्व इसीलिए है कि वह बतलाने की बात है ही नहीं। नारी उसे अपने भीतर अनुभव करती है और उसका अनुभव करने में उसे सुख मिलता है। अब जो पूछो कि क्या सुख मिलना है, तो सारी बात ही शुष्क पड़ जायगी और अन्त में कहना पड़ेगा कि सुख-उख खाक नहीं मिलता। मन में एक भाव—एक सलोनापन—आ जाता है और, जो अच्छा लगता है उसे अनुभव करो तो सुख है, नहीं तो कुछ भी नहीं है।”

वह जब इस प्रकार की, नारी-रहस्य की, बातें करने लगती है, तब मैं उसकी ओर इकटक देखता रह जाता हूँ। एक तो वयस की थोरी, दूसरे मृदुल स्वर-लहरी और फिर बातें करती है ऐसी जैसे अपना एक जीवन-सागर पार कर चुकी हो। मैं तो सोचता रह जाता हूँ कि इस उमर में उसने अपना इतना ज्ञान प्राप्त कैसे कर लिया ? और इसीलिए जब वह मुझसे कुछ कहने लगती है, तब मैं चित्र-सा इकटक देखता रह जाता हूँ। और तब वह पहले तो जो मन में आता है, सब कह जाती है; परन्तु फिर जब उसका समाधान नहीं होता, तब कह उठती है—तुम भी अजीब आदमी हो ! कभी कुछ कहते भी नहीं। मैं अपनी बात कहती रह जाती हूँ और तुम बोलते तक नहीं।

मैं सोचने लगता हूँ—इसकी इन बातों के आगे मैं तो एक अपदार्थ सा हूँ। जैसे मैं अभी तक जीवन का अर्थ नहीं समझ पाया ! इसके आगे मैं तो एक अबोध बालक-सा ही हूँ।

गम्भीरता से मेरी तबियत घबड़ाती है। मनोविनोद-पूर्ण बार्ता-लाप में जब कभी गम्भीरता उत्पन्न हो जाती है, तो आनन्द का वह भरना जिसके निकट बैठकर मानवात्मा कुछ शक्ति और विश्राम-जनित मदिर निद्रा का अनुभव करता है, अन्तरिक्ष में लीन-सा हो जाता है, और तब मेरी इच्छा होती है कि यहाँ से उठकर चल दें। उस समय जब मैं नारी-हृदय की बातों की मीमांसा करने लगा, तो मुझे कुछ डर-सा लगा। मैं सोचने लगा— गम्भीर बातों से ही अप्रीति का सृष्टि होती है। इसलिए क्या ही अच्छा हो, यदि यह प्रसंग यहीं समाप्त हो जाय।

लड़का बरफ़ ले आया था और माया उसका पानी बनाने भीतर चली गई थी। मैंने यह तय कर लिया कि अब इस विषय की चर्चा न करूँगा। परन्तु जब माया गिलास में पानी ले आयी और वह उसे एक छोटी तिपाई पर रखने लगी, वह लड़का पंखा झलने लगा और मैंने मिठाई खाना शुरू कर दिया, तब माया अपने आप कहने लगी—“ यह एक साध होती है। खाना बनाने, थाली परोसने आदि के लिए भले घरों में नौकर भी तो होते हैं, परन्तु कभी-कभी भले घरों की स्त्रियाँ स्वयम् ही खाना बनाकर खिलाती हैं। क्योंकि यह उनके मन की एक साध होती है। ऐसा करने में उन्हें अच्छा है। और यही अच्छा लगना ही उनके जीवन का चरम सुख है। बस यही इतनी सी बात है।”

“ तो यह बात अब ख़तम हुई कि अभी इसमें कुछ बाकी है।” मैंने कह दिया।

“ अभी ख़तम हो जायगी। इतनी जल्दी ! जीवन कितना बड़ा है, कौन जानता है !” कहकर वह गम्भीर हो गई।

यह माया मैंने कैसी पाई, इसकी भी एक कथा है।

लाला गुलाबचन्द की अवस्था जब अड़तीस वर्ष की हो गई और फिर भी उनके कोई संतान नहीं हुई, तो उन्होंने एक दिन अचानक अपने भाइयों से कह दिया अब तो मैं अपना दूसरा विवाह करूँगा। भाइयों ने इस पर आपत्ति की। बोले—दूसरा विवाह करना ही था तो कुछ और पहले करते। अब जब उमर लचने लगी; तब तुम्हें फिर से दुलहा बनने का शौक चर्चाया है।

गुलाबचन्द ने कहा—उमर चाहे भले ही कुछ अधिक जान पड़े, लेकिन अभी मेरा पौरुष ज़रा भी घटा नहीं है, यह मैं अच्छी तरह से अनुभव करता हूँ। यह ठीक है कि सब कोई पाता अपने अपने कामों के फल के अनुसार ही है; परन्तु यदि इतने से आदमी संतोष कर के हाथ-पर-हाथ धर के बैठ जाय, तो संसार तो बात की बात में समाप्त हो जाय। आशा और प्रयत्न—हमारे जीवन के ये दो स्तम्भ माने गये हैं। जीवन का भवन इन्हीं के आधार पर स्थिर रहता है। सो पहले से कौन कह सकता है कि द्वितीय पत्नी से भी मेरे कोई सन्तान न होगी। पर वहाँ प्रश्न सिद्धान्त का न था। वहाँ तो स्वार्थ की बात थी। गुलाबचन्द ने अपने जीवन में बीस-बाइस-हज़ार की जो सम्पत्ति अर्जित की थी और अन्त में उसके पाने की कल्पना इधर कई वर्षों से आप ही आप उन भाइयों के भीतर कोलाहल मचा रही थी। सोचा गया था कि द्वितीय पत्नी के आने पर उससे अगर कोई संतान हो ही गई, तब वह सोची हुई बात तो कोरी मृगतृष्णा ही सिद्ध होगी। अतएव भाइयों का विरोध बराबर जारी ही रहा। परन्तु लाला गुलाबचन्द बड़े दृढ़ विचार के पुरुष थे। वे कहा करते थे कि जिस व्यक्ति में अपने विचारों की दृढ़ता नहीं, मैं उसे मनुष्य नहीं समझता। उससे तो वे पशु भले, जो और कुछ नहीं, तो सींग मारकर या एक लात झाड़कर ही अपनी नाखुशी का इज़हार तो

कर देते हैं ; फिर आगे चाहे कोई उन्हें ज़िबह ही क्यों न कर डाले । इसलिए उन्होंने भाइयों के विरोध की कतई परवाह न की और द्वितीय विवाह कर ही डाला ।

परन्तु उन्होंने यह विवाह बहुत छान बीन के साथ किया । श्रेष्ठ, सम्पन्न और कुलीन घर की अत्यन्त सुन्दर स्त्री उन्होंने प्राप्त की । उसी वर्ष उनके एक कन्या हुई और वह कन्या हुई जैसे अंधेरे घर का आलोक ।

उन दिनों अपने गाँव में मैं ही पहले-पहल मैट्रिकुलेट हुआ था । ज़िला-स्कूल से छुट्टी पाकर जब मैं घर आता, तो गाँव में मेरे आने का संवाद बात की बात में फैल जाता । और फिर कभी किसी काम से जाँ मैं किसी ओर निकल पड़ता, तो जिधर देखो उधर लोग मेरा सम्मान करने को दौड़ पड़ते । सभी चाहते कि नंद नन्दन मेरे घर आवे और बैठे, तो मैं उसका सत्कार करूँ । सोचते और कहते—होनहार लड़का है, अंग्रेज़ी की, ऊँचे दरजे की, शिक्षा पा रहा है । कौन ठीक, एक दिन किसी ऊँचे पद पर जा पहुँचे और हमारा हाकिम ही हो जाय । यही कारण था कि कहीं से कटोरे भर दही चला आ रहा है, कहीं से कुछ पक्वान । और दूध की तो कुछ पूछो ही मत । अगर मैं दस-पाँच सेर हज्रम कर सकूँ, तो भी उसकी कमी न रहे । एक दिन मैं बाज़ार जा रहा था कि रास्ते में लाला गुलाबचन्द का मकान मिल गया । उस मुहल्ले में मैं इधर कई वर्ष से गया न था । यह तो सुना था कि लाला जी ने नयी शादी की है ; पर यह नहीं जान सका था कि उन्होंने मकान पक्का दुमंजिला कर लिया है । सम्भव है, किसी ने बतलाया भी हो ; पर उस समय मुझे उसका कुछ ख्याल न था । हाँ, तो मैं उनके नये मकान को ज़रा देखने लगा । संयोग की बात, उसी समय लाला जी भी घर से निकल आये । मुझे

खड़ा देखकर बोले—आओ मैया, भीतर निकल आओ। मेरे बड़े भाग्य, जो तुम मेरे घर तो आये।

मैं कुछ लजा सा गया। सोचने लगा—लाला जी अपने मन में कहते होंगे कि नन्दू पढ़-लिखकर इतना अभिमानी हो गया है कि छुट्टियों में जब घर आता है, तब भी उससे इतना तक नहीं होता कि अपने पास पड़ोसियों से मिल तो आवे।

पर मैंने लालाजी की बात का कोई उत्तर न देकर कहा—चच्चा, मकान तो आपने बिल्कुल नया कर लिया। जान पड़ता है, जैसे शहर का हो। बड़ा अच्छा लगता है।

वे बोले—“हाँ नन्दू, मैंने सोचा—इस जिन्दगी का कुछ ठीक नहीं मालूम नहीं किस समय चला-चली का वक्त आ जाय। इसलिए जो कुछ मन में आवे उसे कर उठाना ही ठीक है।...जब तुम्हारी नयी चाची आ गई, तब मकान भी नया हो ही जाना चाहिये था।” कह कर अपने मुख पर प्रसन्नता और विनोद का भाव झलका कर कहने लगे—“ठीक हुआ न?”

मैंने भी उनके मन की बात कह देना उचित समझा। कह दिया—“बहुत अच्छा किया आपने। ऐसा तो होना ही चाहिये था।”

अब वे भीतर की ओर जाकर कहने लगे—लाओ, इनको वे पाकवाले लड्डू तो ले आओ।

मैं कहता ही रह गया—चच्चा अभी अभी मैं जलपान किये आ रहा हूँ।

वे बोले—न न, यह न होगा। जलपान तो करना ही पड़ेगा। ऐसा भी नहीं हो सकता है !

मैं जब लड्डू उड़ाने लगा, तो वे बोले—“ भगवान की दया से, पूर्वजों के पुण्य प्रताप से, एक कन्या भी है नन्दू। तुम तो उस समय यहाँ थे नहीं। लोग नहीं माने, रास-लीला और नाच कराना ही पड़ा। ब्राह्मण-भोज भी हुआ। कई दिन तक बड़ा आनन्द रहा। अब सब ठीक हो गया नन्दू। मुझे अब और कुछ न चाहिये। यह कन्या जी जाय, हँसी-खुशी से इसकी शादी कर दूँ और बस।” कहते कहते उनकी आँखों में आनन्दाश्रु छलछला आये।

मैं जब चलने लगा तो लाला जी बोले “ इसका कोई अच्छा सा नाम बताना नन्दू। पुरोहित ने जो नाम बतलाया है, वह तो मुझे कुछ जँचा नहीं।”

मैंने तुरन्त कह दिया—“ यह सृष्टि भगवान की माया है। सो, आप इसका नाम ‘मायावती’ रखिये।”

लाला जी इस नाम को सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। बोले—“अच्छा तो है, मायावती—मायावती; ‘मायावती’ नाम अच्छा है। सचमुच नन्दू, तुमने बड़ा अच्छा नाम बताया।.....वह इस समय सो रही है, नहीं तो तुमको दिखलाता। उसे देखकर तुम बड़े खुश होते।”

उस दिन की लाला जी की बातें तुम्हें बहुत दिनों तक नहीं भूलें।

जीवन में रस क्या वस्तु है, यह मैं तब तक जान न सका था। मैं जब नन्हा-सा बच्चा था, तभी मेरी माता का स्वर्गवास हो गया था। जिला-स्कूल में शिक्षा-जगत का जीवन जो कुछ था, उसी को मैं बहुत कुछ मान बैठा था। कुछ साथी ऐसे हो गये थे, निरन्तर जिनके साथ रहते-रहते अपना एक संसार बन गया था। कुछ बदमाश लड़के भी अपने क्लास में थे। उनसे लड़ाई रखकर,

उनको स्कूल में, और बाहर भी, सभी जगह नीचा दिखाना और पग-पग पर उन्हें जलील करना ही नित्य का एक निश्चित कार्यक्रम बन गया था। हिन्दी-टीचर एक कविजी थे, सदा और सभी को कविता सुनाने की एक भूक उनके सिर पर नाचा करती थी ! यद्यपि मैं उन पर श्रद्धा रखता था, लेकिन और कुछ ऐसे साथी भी थे, जो उनको सदा बनाया करते थे। राह-हाट में, वे जहाँ कहीं भी, मिल जाते कहते—हाँ पण्डितजी, एक कविता तो अब आप की होनी ही चाहिए। और पण्डितजी को इतनी तमीज न थी कि उन लोगों के भीतर के शैतान को ताड़ सकते। मास्टर साहब जब कविता सुनाने लगते, तो मेरे वे शैतान साथी भूमने लगते। कहते—वाह मास्टर साहब, आप धन्य हैं, जो ऐसी अच्छी कविता लिख लेते हैं। कविता तो बस ऐसी ही होनी चाहिये। एक डाक्टर टैगोर साहब हैं, जिनकी 'पोइट्री' मेरी समझ में ही नहीं आती। इसलिए मेरे खयाल से आप की कविता उनसे कहीं अच्छी होती है। और मास्टर साहब बेचारे इतने सीधे थे, सीधे क्या थे, पूरे चौड़म थे कि उन लड़कों की बातों को सच मान बैठते थे।

उस समय मेरे जीवन में जो कुछ भी रस था, वह बस यही इतना ही था। परन्तु अब इसमें परिवर्तन होन लगा था। कालेज का जीवन और ही प्रकार का था। अब हम अपने आप को और साथ ही जीवन के भीतर गुंजित संगीत को समझने लगे थे। लाला गुलाबचन्द के घर अब मैं अकसर जाने लगा था। उस घर का संसार मेरे लिए नया था और नवीनता आकर्षण की जननी है। लाला जी की ज्येष्ठ पत्नी मेरे लिए माता के समान थीं। वे मेरा बड़ा आदर करती थीं। उनका वात्सल्यस्नेह विगलित व्यवहार मेरे लिए शीतल छाया के समान सुखद शान्तिकर बनता जाता था। मैं उनके यहाँ घंटों बना रहता।

कभी-कभी भोजन भी वहीं करता। थाली परोसकर वे मेरे आगे रख देतीं और मेरे निकट बैठकर मुझ पर पंखा झलने लगतीं। मुझे बड़े प्यार से खिलातीं और अपने सुख-दुःख की अनेक बातें निस्संकोच भाव से मुझे बताया करतीं। धीरे-धीरे अब मेरी समझ में आने लगा कि माता का स्नेह क्या वस्तु है।

बड़ी चाची का हृदय संतान के लिए कितना लुधित रहता था, यह बता सकना बड़ा दुष्कर है। अमावस की रात्रि का-सा अन्ध-कार उनके हृदय में विपाद बनकर आच्छन्न हो गया था, माया जब से उत्पन्न हुई थी, तब से उनका जीवन कुछ-कुछ स्थिर हो चला था। वह यद्यपि छोटी चाची की कुक्ष से उत्पन्न हुई थी, तथापि उसका लालन-पालन बड़ी चाची ही करती थी। दूध पीने भर के लिए वह अपनी वास्तविक माँ के पास जा पाती थी। अगर कभी माया अस्वस्थ हो जाती, तो बड़ी चाची अपना खाना-पीना तक बन्द कर देती थी।

माया धीरे धीरे अपना बाल-चापल्य दिखला-दिखलाकर इस परिवार में आनन्द-मन्दाकिनी प्रवाहित करने लगी थी। मैं जब कभी बाहर से आता, तो वह दौड़कर मेरी भू-स्पर्शनी लम्बी धोती में लिपट जाती। मैं उसे गोद में लेकर उसे खिलाने लगता। मैं जब उसकी एक ओर की चुम्मी ले चुकता तो अपने भोले स्नेह का उद्भव कर वह दूसरे ओर की चुम्मी के लिए भी अपना मुँह फेर लेती थी। इस घर के अधिकतर लोग मुझे मेरे नाम से ही पुकारते थे और इसलिए यह 'माया' भी मुझे नन्दू ही कहा करती थी।

इसी समय यकायक मेरा जीवन-क्रम ही बदल गया।

सरदी के दिन बीत चुके थे, मैं बी० ए० की परीक्षा की तैयारियाँ ज़ोरों के साथ कर रहा था। उस दिन कुछ बदली सी-थी।

सबेरे का अध्ययन समाप्त करके मैं स्नान के लिए जा ही रहा था कि गाँव का एक आदमी, मेरे घर का नौकर, मेरे कमरे की ओर आता देख पड़ा। मैं उसे देखते ही सहम गया। सोचने लगा—कुछ दाल में काला है। अब वह आदमी मेरे निकट आ गया और आते ही बोला—कानून-गो साहब ने बुलाया है।

मैंने पूछा—बात क्या है जो इम्तहान के समय.....।

उसने कह दिया—वे इधर कई दिन से बीमार हैं।

उसी समय घर को चल दिया। किसी प्रकार उसी दिन सायंकाल मैं पिता जी के सामने उपस्थित हो गया। वे कई दिनों से बीमार थे और इस कारण बड़े चिीण पड़ गये थे। मैंने कहा आप इतने बीमार रहे और मुझे बुलाया तक नहीं।

वे बोले—मैंने सोचा था कि जल्दी अच्छा हो जाऊँगा। बुलाने से तुम्हारी पढ़ाई में हर्ज होगा, इसलिए नहीं बुलाया था। पर तुम आ गये, चलो, यह बहुत अच्छा हुआ। अब मैं अच्छा हो जाऊँगा।

मुझे अपने समीप पाकर उस समय वे बहुत सुखी हुए। उनकी आँखों में आँसू छलक आये।

और उसी दिन पिताजी मुझे बड़े दुःखी देख पड़े। आँसू भरकर वे कहने लगे—तुम इतने बड़े तो हो गये पर तुमने यह न जाना कि जीवन का सुख क्या चीज है। तुम बहुत ही छोटे थे, जब तुम्हारी माँ का देहावसान हुआ। माता का स्नेह तुम पा ही न सके। सोचा था, अपने रहते तुम्हारा व्याह कर दूँगा, बहू आ जायगी तो कुछ दिन और चल जायँगे। परन्तु तुम अब तक सहमत ही न हुए। अब वही सब होगा, केवल मैं न रहूँगा।

मैंने उन्हें बहुत धैर्य बँधाया; परन्तु वे यही कहते गये—अब न बचूँगा नन्दू। मेरा समय आ गया।

उसी दिन पिताजी का स्वर्गवास हो गया।

बहुत दिनों तक पिताजी की ये बातें न भूलों। जब कभी इन बातों की याद आ जाती, तभी भीतर का आवेग सम्हाले न सम्हलता। फिर जब तक अच्छी तरह रो न लेता तब तक जी को संतोष ही न होता था। इसका परिणाम यह हुआ कि उस वर्ष मैं बी० ए० की परीक्षा में सम्मिलित न हो सका।

दस वर्ष बाद—

अब मैं कानपुर में वकालत करने लगा। यद्यपि प्रारम्भ में आय कम होती थी; परन्तु मैं डटा रह गया। पिताजी काफी सम्पत्ति छोड़ गये थे। इसलिए खर्च के लिए रुपये की कमी न थी। एक अच्छा सा बंगला किराये पर ले रक्खा था। आय भी अब अच्छी होने लगी थी,

इधर कई वर्षों से अपने गाँव नहीं गया था। अकस्मात् एक ऐसा संयोग आ गया कि गाँव जाना ही पड़ा। लाला गुलाबचन्द की लड़की माया का विवाह था। लाला जी न माने, बोले—यह न होगा। तुम न चलोगे, तो मेरे घर की शोभा कैसे बढ़ेगी। निदान उस अवसर पर मुझे सम्मिलित होने के लिए जाना ही पड़ा।

इस अवसर पर माया को देखने का संयोग अकस्मात् आ ही गया। उसे शैशव में देखा था, इतने दिनों में वह ऐसी, इतनी बड़ी हो गई होगी, इसकी कल्पना भी मैंने कभी न की थी उसकी वह अजस्र चंचलता न जाने कहाँ चली गई थी। बाहर निकलती हुई जब वह लज्जावश अपने यौवन-सम्भार समेटती चलती, तब ऐसा जान पड़ता, जैसे वसुमती दोलायमान हो उठी है

और कवि की यह वाणी निनादित हो उठी—“हौले-हौले हँसन की हाँसी-सी करत जात ।”

लालाजी इस समय कितने उत्साह में थे, यह देखते ही बनता था उनका प्रबन्ध इतना अच्छा था कि सभी उनकी सराहना कर रहे थे; बरात आई और धूमधाम से उसका स्वागत किया गया। पर अगवानी और द्वाराचार की रस्म समाप्त कर जैसे ही बरातियों ने अपने-अपने टेंटों में स्थान ग्रहण किया, वैसे ही एक दुर्घटना हो गई। वर को एक काले नाग ने काट खाया। जब तक नश्वर लगाया गया, तब तक विष शरीर भर में छा गया। अनेक उपचार किये गये, पर सब व्यर्थ सिद्ध हुए।

इस घटना का लाला जी पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। बहुत दिनों तक वे इस शोकाघात से विक्षिप्त-से बने रहे। उनका दिल टूट गया था। मैंने अनेक प्रकार से उन्हें संसार की गति का मर्म समझाने की चेष्टा की, परन्तु किसी प्रकार उनको समाधान नहीं हुआ। बार-बार वे यही कहा करते—“हाय ! मुझे यही सब देखना बदा था ! यदि मैं ऐसा जानता, तो अपना दूसरा विवाह ही न करता ।”

उनके ऐसा सोचने का एक कारण और था। दूसरे वर्ष भी उन्होंने माया के लिए वर की बहुत खोज की; परन्तु कहीं भी उसका सम्बन्ध तै नहीं हुआ। छानबीन और आन्तरिक अनुसन्धान करने पर जब लोगों को यह मालूम होता कि उसके ग्रह बड़े कड़े हैं और पाणिग्रहण संस्कार होने के पूर्व ही, एक बार, लड़की का वर, सर्पदंश से काल-प्राप्त भी बन चुका है, तो तुरन्त विवाह करने की अस्वीकृति भी आ जाती थी।

यह सब कुछ था, फिर भी विश्व की गति में कहीं कोई अन्तर नहीं आया था। प्रतिवर्ष अनेक विवाह होते, पुत्र-जन्म के उत्सव

होते, लोग बीमार पड़ने, महीनों उनकी चिकित्सा होती, सेवा-उपचार में रहने वाले लोग थकते भी और उनकी यह भी अभिलाषा व्यक्त होती रहती कि ये (रोगी) महाशय अब तो सिधार ही जायं, तभी इनका कल्याण हो। और फिर कुछ दिन और रो-भीक कर वे मर भी जाते।

माया भी उत्तरोत्तर बयस्क हो रही थी परन्तु उसमें इधर एक विचित्र परिवर्तन हो रहा था। उसका वह लज्जा-संकोच भाव कुछ कम हो गया था। ऐसा जान पड़ता था जैसे उसने यह समझ लिया हो कि अब मैं कुमारी ही रहूँगी। और इसलिए वह निर्द्वन्द्व रहने लगी थी। मानो उसके भीतर कहीं भी व्यथा का अस्तित्व तक नहीं रह गया है। अपनी इस प्रसन्नता से वह अपने माता-पिता को सदा प्रसन्न रखने की चेष्टा करती। पर जीवन एक-दो दिन की वस्तु तो है नहीं। लाला जी को जब यह ख्याल आ जाता कि अब इस 'माया' का होगा क्या उसका जीवन व्यतीत कैसे होगा, तो रात-रात भर उन्हें नींद न आती थी।

पहले मैं जब कभी लाला जी के घर जाता था, तो माया मेरे सामने न आती थी। अब ऐसी बात न थी। मैं बैठके में बैठा लाला जी से बातें कर रहा हूँ, जितनी देर बैठूँगा उतनी देर में कभी पानी और कभी पान या जल-पान देने के लिए माया ही अब मेरे निकट आने लगी। वह आने लगी, पर उसने कभी आँख उठाकर मेरी ओर देखा तक नहीं। जो लड़की घर में दिन भर हँसती रहती हो, वह मेरे ही सामने क्यों ऐसी जड़ हो जाती है, प्रायः मैं इस बात को सोचता रहता।

एक दिन सबेरे ही आकर मैंने लाला जी से कहा—माया के लिए मैंने एक वर ठीक कर लिया है। वह पढ़ा-लिखा युवक है।

वह अपने स्वभाव का बड़ा हठी है। मैंने जब उसे उस दुर्घटना की सूचना दी, तो बोला—अगर यह बात है कि कोई भी उसके साथ विवाह करने को राजी नहीं होता तो ऐसी लड़की के साथ मैं विवाह करने को तैयार।

पहले तो लालाजी को इस बात पर विश्वास न हुआ; परन्तु जब मैंने उन्हें सारी परिस्थिति समझा दी तब कहीं उन्हें विश्वास हुआ। फिर क्या था। नए उत्साह के साथ फिर माया के विवाह की तैयारियाँ होने लगीं।

बरात आने को केवल दो दिन शेष रह गये थे। उस दिन लालाजी के बैठके में बैठा हुआ मैं बाहर से आए हुए भँगनी के समान की सूची बना-रहा था संयोग की बात, उस समय मैं अकेला ही था। लाला जी और उनके सहायक सम्बन्धी आत्मीय स्वजन भी कार्यवश बाहर गए हुए थे। स्त्रियाँ दूसरे खंड पर बैठी हुई मांगलिक कार्यों में लगी हुई थीं कि इसी समय माया मेरे निकट आकर खड़ी हो गई। उसे अचानक अपने निकट पाकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। मैंने पूछा—क्या मुझ से कुछ कहना है?

उसने पृथ्वी की ओर अपनी दृष्टि गड़ा कर कहा—हाँ।

अब मैंने उसकी ओर दृष्टि डाल कर पूछा—क्या?

उसने कुछ उत्तर नहीं दिया। हाँ, मैंने देखा, उसकी आँखों से 'टप-टप' शब्द करते हुए आँसू अवश्य टपक रहे हैं।

मुझे, उसको, इस रूप में देखकर बड़ा दुःख हुआ। मैंने फिर कहा—“कहो, मुझसे जो कुछ कहना हो निस्संकोच भाव से कहो ॥”

उसने आँसू पोंछकर, दृढ़ होकर, कहा—मैं विवाह न करूँगी।

मेरे मुँह से निकल गया—क्यों? ऐसी क्या बात है?

उसने कहा—बात कुछ भी नहीं है।

“ कोई बात नहीं है, तो अकारण यह विचार क्यों उत्पन्न हुआ ? जीवन कितना विस्तृत है, अभी तू समझती नहीं माया। समझती, तो ऐसा विचार ही मन में न लाती। स्त्री-जाति होकर ऐसा भी कोई सोचता है ?

अब उसने कुछ और दृढ़ गम्भीर होकर कह दिया—मैंने खूब सोच-विचार कर ऐसा स्थिर किया। क्योंकि देखती हूँ, इस संसार में, किसी किसी के विचार और सिद्धांत दूसरे के लिए ही होते हैं।

×

×

×

तीसरे दिन जब सायंकाल बरात नहीं आयी, रात को भी नहीं आयी; पाणि-ग्रहण-संस्कार का मुहूर्त अत्यन्त निकट आ गया, तब मैंने मूर्छित से पड़े हुए लाला जो के पास जाकर कह दिया—चलिए, सब कार्य सम्पन्न कीजिए। आपने कई वर्ष पहले मुझसे जो प्रस्ताव किया था मैंने उस पर विचार कर लिया। वह आपके सामने उपस्थित है। उसने पहले ही से यह सोच लिया था कि यदि इस बार भी कोई विघ्न उपस्थित हो जायगा, तो उसका निवारण यह ‘ नन्दू स्वयं करेगा ’ फिर चाहे उन्हें अपना व्रतभंग ही क्यों न करना पड़े।

दामा

(क)

उसका संसार बहुत छोटा था। अपने माता-पिता का अकेला—न कोई भाई, न बहन। बारह वर्ष का भी न हो पाया था कि उसकी माता अपने कच्चे घर के लिपे-पुते, साक-सुथरे, आँगन को बहू की रुनक-भुनक से गुंजायमान होने को उत्कण्ठित हो उठी, और फलतः एक चंचल स्वभाव की अल्हड़ किशोरी के साथ बात-की-बात में उसके जीवन की ग्रंथि बाँध दी गई।

अभी उसके पढ़ने के दिन थे। व्याह हो आने पर उसके साथ के मित्रों ने एक दिन कहा—यार किसी दिन, किसी बहाने, भावज को दिखाओगे नहीं !

एक दूसरा बोला—हाँ, दुलारे भाई, ठीक तो है—हम लोग तो उमर में तुमसे कुछ छोटे ही होंगे।

दुलारे बोला—शैतान कहीं के ! अपने मतलब के लिये सब-के-सब छोटे बन गए !

सब खिलखिलाकर हँस पड़े।

एक मित्र ने कुछ गम्भीर होकर कहा—अच्छा खैर, यह तो दिल्लगी थी। अब यह बताओ मिठाई कब खिलाओगे ?

अब दुलारे ने कहा—चाहे जब खा लो।

एक दूसरा मित्र—जब तब की बात नहीं, कोई दिन अभी निश्चित कर दो।

दुलारे—तुम्हीं न निश्चित करके हमें बता दो।

एक साथ दो मित्रों ने कहा—रविवार को रक्खो। उस दिन छुट्टी भी रहेगी। सबने उनके इस प्रस्ताव का समर्थन किया, और अगले रविवार के दिन दुलारे के मकान पर उसके मित्रों को दावत देना तय हो गया।

आज दस वर्ष बाद, दुलारे के लिये, वह दावत स्वप्न की-सी बात हो गई। उसके उन दिनों के साथी यत्र-तत्र अपने-अपने धंधे में लग गये।

गिनती के दो-चार लोग ही ऐसे रह गए, जो उसके गाँव में अब भी उसी तरह रहते हैं, जैसे दुलारा रहता है। उनमें से कोई जब कभी मिल जाता है, तब उन्हीं दिनों की चर्चा छिड़ जाती है। किसी के मुख पर किशोरावस्था की वह अरुणाई नहीं झलकती। काल के कठोर थपेड़ों ने सभी के जीवन को आहत करके छोड़ दिया है। किसी के बदन पर गाढ़े का सलूका इतना अधिक फट गया है कि उसके चिथड़े लटक रहे हैं। उसे अपने जीवन की करुण-कहानी कहने की आवश्यकता नहीं पड़ती। वे चिथड़े ही अपने आप सब कुछ कह देते हैं। किसी के पास खेती करने के लिये एक ही बैल रह गया है, दूसरा बैल जब से मर गया है, तब से वह फिर खरीद ही नहीं सका। किसी तरह काम चलाने के लिये एक भैंसा ले रक्खा है। बैल और भैंसे की जोड़ी का यह अनमेल संबंध ही उसकी स्थिति को अपने आप कह देता है। वर्ष-भर में जब एकआध बार किसी-न किसी की बारात में सब लोग इकट्ठे होते हैं, तब उनकी स्थितियों का रहा-सहा निदर्शन भी हो जाता है। नया कुरता और धोती जोड़ा होने पर भी किसी के सिर का साफा फटा पुराना ही होता है। जब सब लोग सजधज कर बैठते हैं, तब वह भी उन्हीं के बीच में सिकुड़-सिकुड़कर बैठता है। उसे बार-बार इसी अभाव का आघात पीड़ित करता

रहता है कि कोई मेरे साफ़े की मर्यादा से परिचित न हो जाय । यदि किसी ने कह दिया—यार ! कुरता तो अच्छा निकाला है, तब तो उसका और भी मरण हो जायगा ; क्योंकि तब साफ़े की दुरवस्था उसके मन को एक बार झकझोर ही देगी, और उसे उसका स्मरण करके नतमुख्य होना ही पड़ेगा । तब तो एक गम्भीर आह भरकर उसे अपने मन में यह कहना ही पड़ेगा—कहीं मेरा यह साफ़ा भी नया होता !

जब कभी दुलारे अपने इन साथियों की अवस्था को अपनी अवस्था से मिलान करने बैठता, तो उसकी विचित्र दशा हो जाती । यों तो थोड़ा बहुत दुःखी सारा जगत् है ; पर क्या दुलारे-जैसा दुःखी भी कहीं कोई है ? वह सोचता—रामदीन के पास अधिक धन-संपत्ति नहीं है, बेचारा दिन में एक ही बार पेट-भर खा पाता है । खाने वाले दस और पैदा करने वाला वह अकेला । तो क्या हुआ ? जब वे सब संध्या-समय इकट्ठे होकर बनी हुई रोटियाँ बाँट-चूँटकर खा जाते हैं, तब कितनी गहरी नींद सोते हैं ! कोई बच्चा कहता है—अम्मा री अम्मा, देख मेरी रोटी दिादिया ने छीन ली, अब मुझे तनुक दुधुआ पिला दे ? बच्चे को उसी क्षण गोद में लेकर उसे अपना स्तन्य-पान कराने में उसकी मा कितना सुख पाती होगी, और रामदीन इस दृश्य को देखकर कैसा आनंद-विभोर हो जाता होगा ! सचमुच बिलकुल ही पगला है वह रामदीन, जो अपने को दुःखी समझता है । और, वह किशोरी भी कितना बनता है ! उसकी कन्या तो साक्षात् लक्ष्मी ही है । मेरे घर जब कभी मट्ठा लेने आ जाती है, तो इच्छा होती है कि उससे घंटों बातें ही किया करूँ । बिलकुल सोने का-सा रँग है । खिले हुये फूल की तरह प्रसन्न रहती है, जैसे किसी संपन्न घर की कन्या हो । वह जब कन्या पाठशाला से पढ़कर लौटती होगी और

किशोरीलाल की गोद में बैठ जाती होगी, तब किशोरी लाल उससे पूछता होगा—आज क्या पढ़ा था री ?

चंपा कहती होगी—आज तो गुरु-माजी ने तेरह का पहाड़ा लिखाया था दादा। वही याद करती रही। अब जो नई गुरु-मा आइ हैं न, वह बड़ी अच्छी हैं। बड़े मन से पढ़ाती हैं, किमी से कभी नाराज नहीं होतीं। मारना तो जानती ही नहीं। उनके बिना कुछ कहे हुए ही सब काम ठीक तरह से हो जाता है। उनके नीचे जो छोटी गुरु-माजी हैं, वे सब उनके इशारों पर ही सारा काम करती हैं। और हाँ, सुनो दादा ! अरे तुम तो ऊँघने लगे !

किशोरीलाल ऊँघते हुए भी जगने का भाव दिखाकर कहता होगा—हाँ, यही तो कहती थी, यह नई गुरु-माजी बड़ी अच्छी हैं।

चंपा कहती होगी—हाँ, यही तो। और एक बात और सुनती हूँ दादा, यह नई गुरु-माजी बिहाता (विवाहिता) हैं। तब चंपा कहती होगी—अच्छा दादा, क्या इन्हीं मा की तरह मैं भी कहीं, ऐसी ही, पढ़ाने की नौकरी पा सकूंगी ? बड़ी अच्छी साड़ी पहनती हैं दादा।

किशोरीलाल तो ठहरा मूर्ख, वह तो साड़ी की बात सुनकर अपनी गरीबी ही सोचने लगता होगा। नहीं, तो वह झट से कह दे—दुत पगली ! तू यह नौकरी काहे को करेगी। तू तो कहीं किसी बड़े आदमी के घर की रानी होकर रहेगी। ऐसा गुरु-मा को तो तू पढ़ाने के लिये नौकर रख सकेगी !

इस प्रकार किशोरीलाल भी कितना भाग्यशाली है ! और मैं आह ! जिसकी मां की यह अभिलाषा, उसके जीवन की अन्तिम साँसों के साथ ही गई कि मेरे एक कानी ही नातिन हो जाती तो इस वृद्धावस्था में उसे खिलाने का सुख तो उपलब्ध होता !

दुलारे अपने जीवन के इस अभाव के साथ सदा खेलता रहता है। कभी रोता है, कभी खीझता है और कभी एक गरम आह खींचकर रह जाता है।

(ख)

गम्भीर अमावस्या के बाद प्रतिपदा को लेकर कभी पूर्णिमा का भी आगमन होता है। फूलों के पौदे अपने अपने कंटकाघात से वाटिका-प्रेमी के परिधान का भी क्षत-विक्षत कर डालते हैं, तो कभी अपनी मदमाती सुवास से उनके मनोमयूर को एक बार नचा भी देते हैं। वर्षा की झड़ी कभी यदि अपना स्नेह-निकेतन भूमिसात कर देती हैं, तो यदा-कदा हमारे जीवन में आनन्द-मंदा-किनी भी प्रवाहित कर देती हैं।

दुलारे अभी तक अपनी जिस साध को चुपचाप अपने उर-अंतर में छिपाए रहता था, एक दिन आया कि वह भी पूर्ण हो गई। घर के आँगन में बैठे हुए उसे सुनाई पड़ा, कोई कोठरी के अंदर से 'कुहूँ-कुहूँ' करने लगा।

मुहल्ले में एकाएक खलबली मच गई। गृहसेवा-निरत प्रमदाएँ एक दूसरे से पूछने लगीं—आज यह शहनाई किसके घर बजने लगी? बात-की-बात में गाँव-भर में यह संवाद फैल गया कि दुलारे के पुत्र उत्पन्न हुआ है। बधाई-गायिका ग्राम्य-नर्तकियाँ आईं, तो इतनी खुश होकर गईं कि फिर वे जहाँ-जहाँ गईं, वहाँ दुलारे की दी हुई वस्तुओं की प्रशंसा करती गईं। कोई ऐसे अवसरों पर गुड़ की भेली बाँटता है, कोई दो-दो बतासफेनी ! दुलारे ने लड्डू बाँटवाए।

बच्चे का प्यार का नाम रक्खा गया मुनुवाँ। धीरे-धीरे वह अपने तात दुलारे को भी पहचान गया, और मा की गोद से किलककर दुलारे की ओर भी उछलने और हाथ बढ़ाने लगा।

दुलारे उसे अपनी छाती से चिपका लेता और घंटों उसके साथ खेला करता। खेतों में हल जोतकर जब वह घर को लौटता, तो रास्ते-भर यही सोचता आता, मुनुवाँ इस समय न-जाने क्या कर रहा होगा। या तो सो रहा होगा, अथवा माता की गोद में दूध पी रहा होगा। कभी सोचता, कहीं उसकी तबियत कुछ खराब न हो गई हो—कहीं उसे ज्वर न आ गया हो। यह विचार आते ही उसका कलेजा काँप उठता। कभी मन में कहने लगता—माता-पिता की अतिशय प्यारी संतान की रक्षा ईश्वर के सिवा और कौन कर सकता है। नहीं तो ऐसी संतान के पीछे नाना प्रकार की व्याधियाँ तो प्रायः लगी ही रहती हैं। घर पर आते ही वह सबसे पहले मुनुवाँ को देखने की इच्छा करता। भीतर पहुँचते ही भट से मुनुवाँ को अपनी गोद में लेकर खिलाने लगता। मुनुवाँ कभी तो दुलारे की मूँछ पर हाथ साफ करता, कभी उसकी आँख में उँगली गड़ाता। उस समय दुलारे मन-ही-मन कहता—अंतर्धामी ! तुम्हारी ही कृपा से मुझे यह सौभाग्य मिला है। अतएव इस संतान की रक्षा के अवलंब भी तुम्हीं हो। ऐसे समय उसे यह दोहा ज़रूर स्मरण आ जाता—

मेरा मुझको कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर ;

तेरा तुझको सौंपता, क्या लागे है मोर ।

अब मुनुवाँ घुटनों के बल चलने लगा। ज्यों ही वह दुलारे को देखता, भट मा की गोद से दुलारे के पास आने को आतुर हो उठता। मा उसे गोद से उतार कर भूमि पर बैठा देती। मुनुवाँ भट से घुटनों के बल दुलारे के पास आकर, उसकी गोद में जाने को अपने दोनों हाथ उठा कर थोड़ा मुसकिला देता, थोड़ा किलक उठता। दुलारे उसे उठाकर अपनी छाती से चिपकाता, उसकी चुम्मी लेकर कहने लगता—मेरा मुनुवाँ तो बड़ा राजा बेटा है।

धीरे-धीरे मुनुवाँ बड़ा होने लगा ।

अब मुनुवाँ ने अनुकरणप्रियता की ओर ध्यान दिया । दुलारे के पास मुहल्ले के जो लोग आते, वे उसे दादा कहते थे । इसलिये अब मुनुवाँ भी दुलारे के आने पर मा की गोद में बैठे हुए कहने लगा—डाडा, डाडा । मा पूछती—कहाँ है तेरा दादा मुनुवाँ ?

मुनुवाँ झट से उसी ओर हाथ उठाकर कहता—डाडा ।

दुलारे स्नान करने के अनंतर भगवान् शालग्राम का पूजन करता था । पूजन करने के अनंतर वह दोनों हाथ जोड़कर भगवान् को प्रणाम करता था । मुनुवाँ भी अब कभी-कभी दोनों हाथ जोड़कर उन्हें अपने माथे पर लगा लेने लगा । मा पूछती—मुनुवाँ, डाडा कैसे पूजा करता है ? उत्तर में मुनुवाँ दोनों हाथ जोड़कर मस्तक से लगा लेता । मा का रोयाँ-रोयाँ पुलकित हो उठता । वह झट से मुनुवाँ की चुम्मनी लेकर, उसे कलेजे से चिपकाकर, गले से लगा लेती ।

अब दुलारे के घर में सुख-संतोष नित्य खेला करता । उसकी चिर-संचित कामनाएँ कल्पनाओं के हिंडोलों में भूला करतीं । पहले दिन-रात परिश्रम करता, तो मन-ही-मन कहता था, यह सब किसके लिये ? पर अब बात ही और थी । सोचता—अगर उस खेत में इस बार चालीस मन गेहूँ हो जाय, तो एक बार मज्जा आ जाय । वर्षा-ऋतु में कच्चे मकान में बड़ी तकलीफ होती है । मुनुवाँ ज़मीन में ही खेलता है । कहीं उसे सीढ़ लग जाय तो ! इसके सिवा अपने मुनुवाँ को अँगरेज़ी पढ़ाने के लिये भी तो कुछ रुपए होने चाहिए । मेरा मुनुवाँ अगर कहीं पढ़-लिखकर हाकिम परगना (डिप्टीकलेक्टर) हो सके ।

निराशा जीवन का भंभावात कभी कुछ करने नहीं देता ।

मनुष्य कुछ दूर आगे चलता है, फिर बैठ जाता है। सोचता है, अगर कहीं सफलता तक पहुँचने का यह मार्ग ही न हो, तो ! पर आशायुक्त जीवन की बात और है। तब मनुष्य के अंतःकरण में उद्दाम शक्ति किंवा प्रचंड साहस रहता है। अब दुलारे का भी यही हाल था। पहले खेतों की सिंचाई का अवसर आने पर सप्ताह के भीतर किसी भी दिन उसे अपने खेत सींचने का मौका मिल जाता तो वह संतुष्ट रहता था। पर अब वह यही चाहता था कि सबसे पहले मेरे खेतों की ही सिंचाई हो। इसलिये प्रायः सिंचाई के मामले में वह अपने साथियों से झगड़ने लगा। लोग कहते—अब वह पहलेवाले दुलारे मिसिर नहीं रहे, जिनकी बातों से फूल झड़ते थे। अब उसकी तृष्णा जो रंग न लाए, थोड़ा है।

(ग)

रोशनसिंह ने आगे बढ़कर कहा—महाराज, तुमको पानी नहीं मिलेगा—नहीं मिलेगा, जब तक हमारे सारे खेत सिंच नहीं जाते।

दुलारे ने भी उत्तर दिया—तुम तो कोई चीज ही नहीं हो। आज ब्रह्मा भी खेत में पानी लगाने से मुझे नहीं रोक सकते।

यह कहकर दुलारे ने फावड़ा उठाया, और अपने खेत में नाली काट दी।

रोशनसिंह बोला—झगड़ा करना अच्छा नहीं होता महाराज ! मैं अभी आपसे सीधी तरह कह रहा हूँ, जिससे पीछे आपको पछताना न पड़े।

दुलारे बोला—पछताना पड़े तुम्हें और तुम्हारे बाप को। मुझे क्यों पछताना पड़ेगा।

दुलारे का इतना कहना था कि रोशन ने एक डंडा दुलारे की बाँह पर जमा दिया ; बोला—साला बाप तक जाता है ! ले, अब तो बाप की गाली न देगा।

दुलारे डंडा खा तो गया, पर फिर झट से अपनी लाठी उठाकर रोशनसिंह के सिर पर ऐसे जोर से मारी कि उसका सिर फट गया। खून के फव्वारे छूटने लगे। थोड़ी देर में गाँव के अन्य लोग भी आ गए। रोशनसिंह चारपाई पर लदकर घर गया। उस दिन तो ऐसा मालूम होने लगा कि बचेगा नहीं; पर तुरंत अस्पताल भेजा गया, और छः मास में अच्छा हुआ। गाँव के लोगों ने रोशनसिंह का ही साथ दिया। जमींदार ने भी उसी का पक्ष लिया। दुलारे ने दो-तीन सौ रुपए कई वर्ष में इकट्ठे कर पाए थे। इन रुपयों को वह बड़े धैर्य के साथ रक्खे हुए था। विवश होकर उसे ये रुपए इस मुकदमे में लगा देने पड़े। सोचा, रुपया हाथ का मैल है, फिर आ जायगा। पर एक बार खोई हुई प्रतिष्ठा फिर नहीं आती। अगर मुझे सच्चा हो गई, तो किसी काम का न रहूँगा। सारी शेखी मिट्टी में मिल जायगी। संबंधी लोग मुझे छोड़ देंगे, सो अलग।

पर रुपया लगाने से ही क्या होता है। जो होने को होता है, वह होकर ही रहता है। दुलारे मुकदमा हार गया। हाकिम के सामने वह बहुत गिड़गिड़ाया; बोला—सरकार किसी दीन का न रहूँगा। मेरा नादान बच्चा मर जायगा, घरवाली दाने-दाने को मोहताज हो जायगी।

मामला साधारण न था। रोशनसिंह मरते-मरते बचा था। इसके सिवा अदालत में अधिक दोष दुलारे का ही साबित भी हुआ। उसकी बाँह में डंडे का जो वार हुआ था, वह उछलता हुआ था। वह थोड़े ही दिनों में अच्छा हो गया। इसके सिवा रोशनसिंह ने बयान में कहा—सरकार, पहलेपहल दुलारे ही ने लाठी मारी। उसकी चोट खाकर मैं भूमि पर गिर पड़ा, और बेहोश हो गया। उस समय मुझमें भला इतनी ताकत कहाँ, जो

दुलारे पर बार करता। जरूर इन्होंने यह डंडा अपने हाथ से ही मार लिया है।

हाकिम सज्जा तो दो साल की करनेवाला था, पर दुलारे के गिड़गिड़ाने से, जान पड़ता है, थोड़ा-बहुत दयाद्र हो उठा, और ढेढ़ वर्ष की ही बहाल रखी।

कैसला सुनने के बाद दुलारे ने फिर कहा—सरकार, मेरी यह सज्जा बढ़ाकर चाहे दो साल की कर दें, पर अभी इस समय यह सज्जा मुझे न दें—दो-तीन वर्ष बाद दे दें। हाँ, सरकार, क्या आप ऐसा नहीं कर सकते? नहीं-नहीं, जरूर कर सकते हैं।

हाकिम ने दुलारे की इस बात पर हँस दिया। अन्य लोगों ने भी हाकिम की इस हँसी का साथ दिया। बोले—ऐसा कैसे हो सकता है !

(घ)

कैदी हैरान थे दुलारे के इस स्वभाव पर कि वह किसी से बोलता क्यों नहीं। दुःखों की गठरी अपने कंधों पर लादकर तो सभी मुलजिम आते हैं। कोई दो दिन उदास रहता है, कोई दस दिन। पर ऐसा कभी नहीं हुआ कि कोई कैदी महीनों किसी से बोला न हो, कभी हँसकर किसी से बात ही न की हो।

समय सब कुछ करा लेता है। परिस्थितियों का अतीत पीड़ामय होता है, और भविष्य आशाओं का हरा-भरा उद्यान; पर वर्तमान अंधकारमय भले ही हो, धीरे-धीरे वह सद्य अवश्य होने लगता है। वर्षों काँई व्यक्ति सदा रोता हुआ ही नहीं रह सकता। असह्य शारीरिक और मानसिक क्लेश जीवन के क्षय की ओर ले जाते हैं। इसीलिये कारागारों के वे कैदी, जो ज़िदा रहते हैं, सदा उदास ही नहीं रहते। कभी-कभी वे एक दूसरे से थोड़ा-बहुत हँसकर बोल भी लेते हैं। दुलारे का यह हाल न था। उसने अपने दिल का दर्द

किसी के सामने नहीं रक्खा। वह निरंतर मौन रहता, अपना रोज़ का काम चुपचाप मन लगाकर कर देता।

धीरे-धीरे दुलारे को एक वर्ष व्यतीत हो गया। जेल के कानून के अनुसार कैदी की हैसियत से ठीक तरह से रहने और अपना पूरा काम कर देने पर उसे कुछ दिन और मोहलत के मिले। इस तरह वह थोड़े ही दिनों बाद जेल-जीवन से मुक्त हो गया।

जेल से लौटकर गाँव के लोगों ने दुलारे को दूसरे ही रूप में पाया। पहले वह लाठी रखता था, अब फरसा और बल्लम रखने लगा। अब वह अलानिया कहने लगा—जिस साले ने मुझसे ज़बान लड़ाई, उसकी नाक ही काट लूँगा। जेल का फाटक मेरे लिये खुल ही गया है। अब मुझे डर ही किस...का है।

इस प्रकार अब गाँव में दुलारे का पूरा आतंक था। कोई उससे झगड़ा नहीं करता था। उसे खेतों की सिचाई के लिये किसी से कुछ भी नहीं कहना पड़ता था। दो-तीन वर्ष उसने फिर ख़ूब मिहनत के साथ अपने खेतों में काम किया। उसके जेल जाने पर उसकी गुहिणी को अपने निर्वाह के लिये कर्ज़ लेना पड़ा था, उसने वह कर्ज़ भी बहुत जल्दी अदा कर दिया। इसके सिवा उसके पास कुछ पूँजी भी हो गई।

लेकिन दुलारे का संसार बदल गया था। उसका मुनुवाँ अब स्कूल में पढ़ने जाता था। उसे दुलारे ने सिखा रक्खा था कि बेटा, मार-पीट में सदा आगे रहना। कभी घर पर रोते हुए किसी की शिकायत लेकर न आना। दूध ख़ूब पीना और कसरत कभी न छोड़ना।

(४)

चार वर्ष बाद एक डाके के मामले में गिरफ्तार होकर दुलारे

फिर उसी पूर्व-परिचित हाकिम के सामने था। हाकिम कह रहा था—वेल दुलारे, तुमने यह क्या किया।

उत्तर में दुलारे बोला—कुछ चुरा तो नहीं किया हुआ ! आज-कल जैसा जमाना है, उसको देखकर मैंने जो कुछ किया, बिलकुल ठीक किया। उस बार मैंने हुआ से प्रार्थना की थी कि मुझे इस वक्त छोड़ दें, दो-तीन वर्ष बाद चाहे फिर डेढ़ के बजाय दो वर्ष की सजा दे दें। आपने इस प्रार्थना को सुनकर हँस दिया था। पर आपने यह नहीं विचार किया था कि मैंने ऐसा क्यों कहा था।

हाकिम मुलजिम की इस बात को सुनकर स्तंभित हो गया। उसने कहा—हाँ, क्या बात थी ? बतलाओ, मैं उसे जानना चाहता हूँ।

दुलारे बोला—“बत्तीस वर्ष की उमर में मेरे संतान हुई थी। उस समय उसका दूसरा वर्ष था। उसका उछलना, कूदना, तुतलाना मेरे लिये एक अनोखी चीज़ थी, एक ऐसा सुख था, जो जीवन में फिर मिलना संभव नहीं। आगे कभी कोई और संतान होती भी, तो मेरा वह दिल तो न रहता। जेल से निकलने पर वह बात कहाँ मिली। तब तो वह कुछ बड़ा हो गया था। न उसमें वह मचलना रह गया, न वह किलकना, न मुसकराना, न उस तरह से उत्पात मचाने वाली वह उद्धतता। इसीलिये चाहता था कि यदि वह सजा दो वर्ष बाद होती, तो मैं खुशी से उसे भोग लेता। पर इस जमाने में कोई किसी की सुनता कहाँ है।

“अब यह अपराध भी मैंने इस इच्छा से किया है कि मैं अपने उस बच्चे के लिये कुछ-न-कुछ छोड़कर ही मरूँ। मुझे अपने जीवन में अब कोई आशा नहीं है। मेरी और कोई इच्छा भी अब नहीं रही है। बच्चा स्कूल में पढ़ता है, और पढ़ने में काफ़ी तेज़ है। यदि उसके लिये कुछ रुपए छोड़कर मरूँगा, तो वह कमा खाएगा, और

सुख से अपना जीवन व्यतीत करेगा। लेकिन उसे मेरे रूप्यों की ज़रूरत नहीं है, इसीलिये मैं अपने इस पहले ही अपराध में कैद हो गया हूँ। पर मैंने केवल यही अपराध नहीं किया है। मैंने एक नर-पशु पर पिम्तौल का भी वार किया था। दुर्भाग्य से वह, उसके न लगकर, लगा एक पशु के। उस बेचारे की तो जान मुक्त ही गई। मुझे उसके लिये अफ़सोस है। मेरा खयाल है, नर-पशु लोगों की अपेक्षा यथार्थ पशु लोग दया के अधिक पात्र हैं। ख़ैर, जाने दीजिए इन बातों को। अभी आप लोग इन बातों को सुनकर हँसकर टाल देंगे। अभी इस विचार से आप क्यों सहमत होने लगे। हाँ, मुझे अब इस जीवन की चाह नहीं है। मैंने एक मनुष्य को मारने का जो विचार किया था, उसके लिये मैं फाँसी की सज़ा का मुस्तइक़ हूँ।”

हाकिम मुलज़िम के इस कथन को मूर्तिवत् रहकर सुनता रहा। उसने उस दिन कोई फ़ैसला नहीं सुनाया। वह रात-भर इस प्रश्न पर विचार करता रहा। दूसरे दिन जब लोगों ने सुना कि हाकिम ने अपने फ़ैसले में यह लिखकर दुलारे डाकू को निरपराध बतलाकर छोड़ दिया कि यह मुलज़िम असल में अपराधी नहीं मालूम होता। किसी एक घटना के कारण उसके दिल पर कड़ी चोट पहुँची है, और उसी से प्रभावित होकर उसने अपराधी होना स्वीकार कर लिया है।

ऐसे संगीन मामले में जब दुलारे बिलकुल निरपराध साबित होकर छोड़ दिया गया, तब उसको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने मन-ही-मन कहा—जब मुझे सज़ा मिली थी, तब मेरा कुछ वैसा अपराध न था, और जब मैंने वास्तव में अपराध किया, तब बिलकुल बेदारा छोड़ दिया गया। ईश्वर की इस लीला पर वह एकाएक मुग्ध एवं विस्मित हो उठा। अपराध स्वीकार करते समय उसने

सोचा था, सज़ा की अवधि पूरी कर लेने पर फिर दूसरी बार ऐसा हाथ मारूँगा कि लाखों के वारे-न्यारे करूँगा, और संगठन ऐसा उत्तम रखूँगा कि किसी तरह पकड़ा ही न जा सकूँ। पर इस समय छूट जाने पर उसका हृदय ऐसा करने को उद्यत न हुआ। बड़ी देर तक वह बहुत कुछ सोचता रहा। घर वापस आने पर गाँववालों ने उसमें महान् परिवर्तन पाया। उन्होंने देखा, आज से दस वर्ष पूर्व दुलारे का स्वभाव कुछ इसी तरह का था। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि जो काम सज़ा कभी न कर सकती, क्षमा ने उसे सहज ही संभव कर दिखाया।

×

×

×

इस घटना के बाद पचासों वर्ष व्यतीत हो गए। अब दुलारे को कोई नहीं जानता, लेकिन हाकिम के सामने की हुई उसकी वह प्रार्थना—सरकार इस समय छोड़ दें, दो-तीन वर्ष बाद चाहे फिर मुझे इससे अधिक सज़ा दे दें—लोगों को अभी तक याद है।



विश्वास

कुछ वर्ष पहले रघुनाथ गिरधारी के यहाँ प्रायः देख पड़ता था । कौन जाने, उसे जीविका का अभाव था, या उसके जीवन का कोई कोना ही मरुस्थल हो रहा था ! अगम ठहरा मन, अगोचर उसकी गति । कैसे कहूँ कि उस समय रघुनाथ भूखा-टूटा दीन-हीन था या गति-हीन, वाक्-हीन मांस-पिण्ड मात्र । आँख उठा कर उसकी ओर देखने पर ऐसा प्रतीत होता, मानो शून्यता ही उसकी चेतना है, सन्ध्या की-सी छाया-स्नान उसकी रूप-रेखा । आँखें उसकी कुछ पड़ती रहतीं, कानों में सुनना मात्र बतलाया । हो सकता है, अन-सुनी करना भी कदाचित् उन्होंने सीखा हो । वाणी मानों नींद में विभोर हो गई थी । केवल करवट लेने के चिह्न मुद्रा पर जान पड़ते । उसके सिर के घने काले केश ऊपर की ओर घूम कर मुँह फेर कर विलसते । जान पड़ता, आईने और कङ्के के वार्तालाप में देर तक सङ्घर्ष चला हो । बोध होता, केश-गुच्छ में तैल छू-भर गया है और स्पर्श-मात्र से ही उसका उपेक्षित सान्निध्य है । गाढ़े की उजली फैले कॉलर वाली शर्ट अपनी झलक ज़रा ताज़ी रखती । ताम्बूल की लालिमा से उसके ओंठ सदा अनुरञ्जित रहते । कभी वह हँसता नहीं देख पड़ता, उल्लास जैसे उससे दूर ही दूर रहा करता । यद्यपि वह अपनी ओर से कहता कुछ न था, तो भी उसकी मूकता सदा कुछ न कुछ बतलाती ही रहती । कभी-कभी गिरधारी के मन में आता, उससे कुछ पूछा जाय, और लोगों के सामने न सही, एकान्त में ही सही ; किन्तु उसके मुख पर आच्छन्न प्रशान्त शून्यता से वे कुछ ऐसे विजडित अभिभूत हो उठते कि उनकी सारी

शङ्काएँ धूमिल हो जातीं—प्रश्नावली आपस में ही संशयालु हो-
होकर सङ्घर्ष कर उठती ।

रघुनाथ जब कभी गिरधारी को राह-घाट मिल जाता, किसी के साथ खड़ा तमोली की दूकान पर, पैदल आते-जाते, साइकिल या ताँगे पर, तो सदा उसी का नमस्कार पहले-पहल अनायास गिरधारी के निकट आकर खड़ा हो जाता । ज़रा-सा मुसकरा कर अप्रत्याशित मिलनसे विमूढ़ होकर गिरधारी तब कह उठता—अरे, तुम (रघुनाथ) हो !—कहो, क्या हाल-चाल है ? क्षणिक उत्साहित रघुनाथ एक शिष्ट, उज्जल उत्तर देता—‘आपकी कृपा से अच्छी तरह-से हूँ ।’ उत्तर में उसके आगे के दो दाँत झलक पड़ते । किन्तु क्षण भर पश्चात् फिर वही सघन श्यामल शून्यता उसकी मुद्रा पर छा जाती ।

दिन चल रहे थे ।



रघुनाथ गिरधारी के यहाँ आने-जाते उनका अनुचर बन गया । जब तक वह उनकी बैठक में उपस्थित रहता, उन्हें कोई काम न करने देता । उनके नवागत मित्रों का समस्त स्वागत-सत्कार उसने आप ही अपने ऊपर ले लिया था । खुद ही वह पान लगाने बैठ जाता । मकान के भीतर जाकर वह हरी-पीली खुशनुमा तश्तरियों में पान, इलायची, सौंफ, सुपारी और सुरती सजा कर ले आता और क्रम-क्रम से सभी उपस्थित व्यक्तियों के समक्ष आदर-पूर्वक उपस्थित करता । सिगरेट-केस खोल कर वह उनके सम्मुख इस आशय से उपस्थित हो जाता कि यदि कोई व्यक्ति सिगरेट उठा कर ओंठों से लगा ले, तो वह स्वयं दियासलाई जला कर उसकी सिगरेट सुलगाने में भी सहायक हो जाय । किसी के प्यास लगने

पर, वह शीशे के रङ्गीन गिलास में, शीतल जल या दही का शरबत बना ले आकर, जल्दी से जल्दी, उसके सामने उपस्थित हो जाता । रेस्तोराँ में जो कार्य वेटर या वेट्रेस से लिया जाता है, गिरधारी के यहाँ रघुनाथ वही सब कार्य ऐसी तत्परता से करता कि वे प्रफुल्लित हो उठते । उस समय ऐसा प्रतीत होता मानो गिरधारी का वह अभिनव-आह्लाद ही रघुनाथ का अभीष्ट अवलम्ब है ।

गिरधारी के मित्रों का ही ऐसा स्वागत-सत्कार करने में रघुनाथ इतना कुशल था, यह बात नहीं है, वे जब अपने आफिस से शिथिल क्लान्त लौटने, तो वह तत्काल छिले-कटे फलों, मेवाओं तथा मिष्टान्नों की तश्तरियाँ ऐसे शोभन रूप से उनके आगे पेश करता कि वे उसके आभार से नितान्त अभिभूत हो उठते । यहाँ तक कि एक दिन तो उन्होंने स्पष्ट रूप से कह भी दिया—बेलो भाई रघुनाथ, मैं तुम्हारे लिए क्या कर सकता हूँ ?

अस्थिर प्रसन्न रघुनाथ ने उत्तर दिया—कुछ नहीं भैया, आपका कृपा-भाव भर चाहिए ।

गिरधारी बाबू रघुनाथ के इस उत्तर से अत्यधिक विस्मयाकुल हो उठे । उनकी समझ में नहीं आया कि आखिर यह मुझ से चाहता क्या है । इस प्रसङ्ग को लेकर एक दिन उन्होंने सोचा, जब से यह रघुनाथ आया है, मेरा जीवन कितना सुखमय हो गया है ! अब तक मैंने कभी ऐसे आनन्द का अनुभव नहीं किया । किन्तु यह बात क्या है कि वह मुझ से अपना कोई भी अभिप्राय व्यक्त नहीं करता । तब उन्होंने पता लगाया कि इसकी आजीविका क्या है । कई दिवस के पश्चात् उन्हें ज्ञात हो सका कि वह इलाहाबाद से आया है और आज कल बेकार है । अब कुछ आश्चर्य

और कुछ समाधान के ढङ्ग से गिरधारी बाबू सोचने लगे—अच्छा तो ये महाशय आजकल बेकार हैं, यह बात है ! लेकिन हैं पूरे पागल—जो इतनी छोटी बात भी मुझ से मुँह खोलकर कह नहीं सके ।

दिन चल रहे थे ।



एक दिन गिरधारी ने आफिस से लौटकर अत्यन्त उल्लास के साथ रघुनाथ से कहा—आज तुम्हारे लिए एक खुशखबरी लाया हूँ ।

तो भी रघुनाथ ने लपककर नहीं कहा—‘सुनाइये सुनाइये । जल्दी कीजिये ।’ वरन्, इसके विपरीत वह नतमुख होकर फर्श की ओर देखने लगा ।

किन्तु उसी उत्साह से गिरधारी बाबू ने फिर कहा—तुम्हारी नौकरी तय हो गई है । काम बहुत साधारण है; केवल डिस्पैचिङ्ग करनी होगी ।

अब की बार जब गिरधारी बाबू ने देखा, रघुनाथ फिर भी मौन है तो उसकी यह मूकता उनको सह्य न हो सकी । कुछ उग्र होकर वे बोल उठे—अगर तुमको मेरी बात नहीं सुननी है, सुनकर उसको स्वीकार नहीं करना है, स्वीकार करके उसे कार्य का रूप नहीं देना है, तो तुम्हारा अब यहाँ कोई काम नहीं है—अब से तुम्हारे यहाँ आने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

गिरधारी की इस भर्त्सना का उत्तर तो रघुनाथ ने मुँह खोल कर नहीं दिया; किन्तु उसके पलक अब की बार उपर को उठ गये । गिरधारी की आँखों में समाकर उसने एक बार उन्हें देखा भी;

किन्तु दूसरे ही क्षण उसकी आँखें चमकने लगीं। और तब उन भरे आँसुओं की उस मूक वाणी से गिरधारी बाबू और भी उदीप्त हो उठे। वे बोले—तुम जीविका ही तो चाहते थे। मैं इसी चेष्टा में था भी। ईश्वर की कृपा से तुम्हारी नौकरी ठीक हो गई। अब तुमको मुझ पर अवलम्बित रहने की आवश्यकता न होगी। अपने जीवन में तुम एक अभिनव सुख-शान्ति की हरियाली लहलहाती हुई देखोगे। तब बड़ी-बड़ी, खुली, बाहर निकलती हुई आँखों से रघुनाथ गिरधारी बाबू की ओर स्थिर दृष्टि से देखता हुआ उन्हीं के कुछ शब्दों को, कम्पित गति से दोहरा गया—“जीवन में सुख-शान्ति की हरियाली !”

गिरधारी ने स्पष्ट देखा, रघुनाथ के अश्रु-विगलित मुख पर स्थिर वेदना की यह कैसी श्याम छाया है !

ऑफिस के कपड़े भी न उतार कर, गिरधारी बाबू, ज्यों-के-त्यों, बाहरी बैठक की आराम-कुरसी पर पैर फैला-कर लेट गये। रघुनाथ का वह कम्पित, आर्द्र, भग्न-स्वर, (उसके) वे भीगे पलक और अपने ही कथन के दोहराये (उसके) कुछ शब्द सम्मुख मानो छत की कड़ियों से लटक रहे थे !

दिन चल रहे थे !



कई मास से इधर रघुनाथ भी उसी ऑफिस (लाइफ-इन्श्योरेंस कम्पनी) में तत्परता से काम कर रहा था, जिसमें गिरधारी बाबू हेड-क्लर्क थे।

उसका सारा दिन ऑफिस में बीतता, प्रातः-सायं गिरधारी के यहाँ। रात उसकी अपने निज के आवास में कटती। गिरधारी के यहाँ बैठने-उठने और उनका व्यक्तिगत काम करते रहने के क्रमिक

विकास में, एक ऐसा भी दिन, कुछ असाधारणता लेकर रघुनाथ के सामने आ खड़ा हुआ कि गिरधारी ने, रघुनाथ के सामने ही-अपनी द्वितीय नव-भार्या—पुष्पा—से कह दिया, यह रघुनाथ तुम्हारे लिए, गैर नहीं हो सकता ! यह मेरा छोटा भाई है । और रघुनाथ, तुम इसी क्षण अपनी भाभी के चरण छूकर मेरी इस बात को प्रमाणित तो कर दो । रघुनाथ उठा । गिरधारी ने अनुभव किया, इतना प्रसन्न वह पहले कभी देख नहीं पड़ा था । पुष्पा ने भी एक बार आँख उठाकर उसकी ओर देखा । क्षण भर का भी बिलम्ब हुए बिना, उसके मुँह से निकल गया—कलहास के भ्रकोर में अच्छा-अच्छा, खुश रहो । बैठो । पैर छूने की जरूरत नहीं है ।

रघुनाथ तब अपने स्थान पर पूर्ववत् बैठ गया ।

उस समय गिरधारी ने देखा था; पुष्पा की देह-यष्टि एक बार उल्लास के अभिनव दोलन से, विभाव के निरोध-हीन स्पन्दन से, कैसी विलसित हो उठी है ।

बस, तब से गिरधारी का अन्तःपुर रघुनाथ की अपनी सीमा थी ।



दिन चल रहे थे ।

एक दिन गिरधारी को ऑफिस से लौटने में थोड़ी देर हो गई थी । रघुनाथ पहले चला आया था । गिरधारी जब अपने घर पहुँचा, तो देखा, कुछ बातें चल रही हैं । बहुत मन्द स्वर में पुष्पा ने कहा—तुम तो बस पूरे पागल हो ! ऐसा भी कभी हो सकता है !

उत्तर में रघुनाथ अत्यन्त क्षीण स्वर में कह रहा है—तो मैं अब और ठहर नहीं सकता । मैं अब आज्ञा चाहता हूँ—विदा चाहता हूँ !

सदा की भाँति वैसा ही रुदन-गर्भित कण्ठ-स्वर है उसका, वैसी ही मर्म-भेदिनी वाणी। गिरधारी सोचने लगा—मेरी धारणा थी, मनुष्य देवता नहीं बन सकता। किन्तु आज बोध होता है—देवत्व मानवता से परे कोई वस्तु नहीं है।

गिरधारी बाबू सीधे ही जाकर खड़े हो गये। बोले—क्या बात है रघुनाथ ?

रघुनाथ नतमुख होकर अपने अँगूठे का नख खोदने लगा।

पुष्पा ने कहा—ये कहते हैं—मुझे आज्ञा दो। अब मैं यहाँ से विदा चाहता हूँ।

गिरधारी ने पूछा—क्यों रघुनाथ ?

रघुनाथ के मुँह से निकल गया—‘हाँ, भैया।’ साथ ही उसके दो बूँद आँसू भी कर्श पर टपक पड़े।

गिरधारी ने कहा—यह कैसे हो सकता है ? अब तो तुमको इसी घर में रहना पड़ेगा। मुझे ऑफिस के कार्य से लाहौर जाना है। मेरी अनुपस्थिति में तुम्हीं इस घर और इसकी मर्यादा की रक्षा करोगे।

रघुनाथ बोला—बात यह है भैया कि……।

किन्तु बीच ही में गिरधारी बाबू ने टोंक दिया। वे बोले—बात-बात कुछ नहीं है। तुमने मेरे जीवन के निर्माण में जो सहायता पहुँचाई है उसका कोई महत्व न रह जायगा, यदि इस अवसर पर तुम मुझे छोड़कर चल दोगे। कम से कम तब तक तो तुमको यहाँ रहना ही पड़ेगा, जब तक मैं लौट न आऊँ।

रघुनाथ तब तक कुछ नहीं बोला और गिरधारी बाबू लाहौर चले गये।



दिन चल रहे थे।

रघुनाथ ऑफिस से लौटकर बाहरी बैठक में लेट गया था। भीतर की ओर के किवाड़ बन्द थे और सायंकाल के सात बज रहे थे। पुष्पा ने आकर किवाड़ खोल कर बाहर जो झाँका, तो यह जानकर उसे कुछ विस्मय हुआ कि रघुनाथ जी आराम-कुरसी पर चुपचाप लेट हुए हैं। “क्यों उन्होंने अपने आ जाने का आभास नहीं दिया। फिर भीतर चले न आकर वे बाहर की बैठक में ही क्यों लेट रहे?”—यही सोचती हुई पुष्पा कुछ मिनट तक चिड़ की ओट में खड़ी रही। कोई टस से मस नहीं हुआ। तब पुष्पा बढ़ी और कमरे में आकर रघुनाथ के समक्ष खड़ी हो गई। नयी रेशमी, हरी बुन्दकियों की, सुन्दर साड़ी उसने पहन रखी थी और बहुत दिनों के बाद उसने बक्स से निकालकर तीन लड़ी का हार पहना था। पान की लाली उसके निचले अधर से कुछ नीचे उतर आई थी। साड़ी का किनारा सिर से खिसक कंधे पर आ गया था और गुलाब के फूल के गुच्छों का चोटी का फुन्दना क्षीण कटि के नीचे लटक रहा था।

उसने देखा—रघुनाथ ने सिर नहीं उठाया, कोई बात नहीं की। तब वह आप ही बोल उठी—उनकी को चिट्ठी नहीं आई ?

निद्रा-भङ्ग की नाई—“ऐं चिट्ठी ? हाँ, चिट्ठी तो कोई नहीं आई !” कहकर रघुनाथ ने एक ठंडी साँस ली।

पुष्पा बोली—अब ?

रघुनाथ—उठकर बैठ गया। बोला—अब भी जो होने को है, वही होगा, भाभी। एक दिन था, जब तुम मेरी थीं—एक मात्र मेरी ! मैं दुनिया में केवल एक पुष्पा को जानता था। यद्यपि मुझे विश्वास नहीं था, पुष्पा मुझे मिल सकती है। पर विश्वास का तब मेरे सामने कोई प्रश्न नहीं था, मैं केवल यही सोचता था कि पुष्पा मेरी है। बस, परवा नहीं, मुझे वह न मिले। परवा नहीं,

मुझे वह अपना न भी समझे। उसके बाद एक दिन ऐसा भी आया, जब अपनी इन आँखों से पुष्पा को मैंने दूसरे की बनते देखा ! देखा कि वह मेरी नहीं रही। पर मेरा वह सांसारिक दृष्टिकोण था। यथार्थ में पुष्पा मेरी थी। न होती, तो वह दूसरे की होकर भी मुझे कैसे अपनी आत्मा के एकान्त कोने में स्थान देती। कैसे उसके आँसुओं से भीगे पत्र मेरे जीवन में आँधी उत्पन्न करते। कैसे मैं एक राजकुमार का-सा जीवन व्यतीत करने वाला व्यक्ति होकर यहाँ चालिस रुपये मासिक की नौकरी करना स्वीकार करता। लेकिन परिस्थिति अपने क़ाबू से बाहर होती गई। मैंने अनुभव किया, मनुष्य दूसरों को धोखा देकर रह सकता है, भले ही उसको आँखों का पानी उतारना पड़े—ग्लानि और लज्जा जैसी प्राणपीड़क वेदना को भी वह सहन कर पार उतर जाय। परन्तु वह अपने आपको कैसे धोखा दे ? गिरधारी जब मेरा भाई है, तब भाभी 'मेरी पुष्पा' नहीं हो सकती। मेरी पुष्पा तो मर गई हैं ! अब वे लौट कर नहीं आ सकती। तुम पूछती हो भाभी—अब ? मैं कहता हूँ, अब तो हमारा रास्ता और भी साफ़ है। समझ लो—रघुनाथ एक वञ्चक था, पापी। उसने चाहा था कि एक सद्गृहस्थ का शान्ति और सुख वह मिट्टी में मिला दे और पुष्पा को भगा ले जा कर अपनी जलन बुझा ले। अब उसको, तुम्हारे इस देवर ने—भाभी समझ लो—मार डाला है।

पुष्पा बोली—तुम्हीं ऐसा कहोगे, तो……!

“हाँ भाभी, मैं ही ऐसा कहने पर मजबूर हूँ।”—वह बोला—
 “मैं तुमको धोखा दे सकता था। गिरधारी भाई को भी मैंने बहुत दिनों तक धोखे में रक्खा ही था; किन्तु मैंने देखा, मैं अब अपने आपको धोखा नहीं दे सकता। गिरधारी जहाँ तक अपना हो चुका है, मैं उसे वहाँ से पीछे नहीं फेंक सकता, यह तो मेरे लिए

मरण हो जायगा। तुम्हारी इस नयी साड़ी और उसके भीतर गढ़ाये यौवन के इस प्रमाद के भीतर मैं मातेश्वरी सीता की प्रतिमा देखना चाहता हूँ भाभी! मुझे माफ़ कर दो।...मैं पूर्व निश्चय के अनुसार तुमको...

“बस, बहुत हो चुका रघुनाथ!”—पुष्पा बोली—“जाओ, अपने भैया को तार कर दो कि तुरन्त आवें। मैं इस समय उन्हें अपने समीप देखना चाहती हूँ। नहीं तो—नहीं तो, मैं बावली हो जाऊँगी।”

किन्तु उसी समय टेलिग्राफ-ऑफिस के प्यून ने आकर एक कागज़ और लिफाफा रघुनाथ के हाथ में रख दिया उसमें लिखा हुआ था—मैं कब आऊँगा, कहाँ रहूँगा, इसका कुछ ठीक नहीं है। तुम लोगों का जीवन सुख-शान्ति से व्यतीत हो, यही मेरी कामना है। मेरे आने की प्रतीक्षा करना व्यर्थ है।

तार रघुनाथ के हाथ से गिर पड़ा। पुष्पा बोली—घबड़ाने की बात नहीं है। आज ही हम लोगों को उनकी खोज के लिए निकलना पड़ेगा। मुझे विश्वास है, वे मिलेंगे।

रघुनाथ रो दिया। धीरे-धीरे, मन्द स्वर और उखड़े शब्दों में सिसक-सिसककर, उसने कहा—तुम्हारा विश्वास, हाँ, तुम्हारा यह विश्वास...पूरा हो। यही, बस यही, मैं भी चाहता हूँ भाभी।

किन्तु कौन कह सकता है, पुष्पा का विश्वास यथार्थ प्रमाणित होगा या...?

काली

उसके शरीर पर एक पुराना कोट था, जिसमें बटनों के घर तो पाँच थे, पर उनमें से तीन खाली थे, शेष दो में ही दो बटन लगे हुए थे। और, वे भी दो प्रकार के थे। गले के पीछे का भाग तेल और गर्द से चीकट हो गया था। हाथों की दोनों कोहनी पर ऊपर का कपड़ा इतना फट गया था कि भीतर का अस्तर स्पष्ट देख पड़ता था। उसके बाल बिखरे हुए थे। कई दिनों से न तो उनमें तेल पड़ा था, और न कंधी से वे सँवारे ही गए थे। दाढ़ी के बाल भी बढ़ रहे थे। आँखों में लाल डोरे पड़ रहे थे। शनिवार का दिन था। खूब सरदी पड़ रही थी। अभी सायंकाल के चार ही बजे थे, फिर भी हवा चलने के कारण घर से बाहर निकलकर सड़क पर चलना कठिन हो रहा था। ऐसे ही विकट समय में एक पुराना अलवान ओढ़े कालीशंकर कहीं चला जा रहा था। हवा चलने के कारण गर्द के कण जब आँखों में पड़ जाते, तब कालीशंकर उन्हें मिलमिलाने को खड़ा हो जाता। दो-एक मिनट ठहरता, और फिर इधर-उधर देखता हुआ चल देता। जापानी रबर-सोल का जूता नीचे तल्ले से फट गया था। जब कभी तलवे में उसका चिमोटा लग जाता, तो वह आप-ही-आप झुँझला उठता। सोचता—उँह, इससे तो यही अच्छा था कि मैं नंगे पैरों चलता। किंतु उसी क्षण उसे आजकल की सभ्यता का खयाल धर दबाता था।

व्यों-त्यों करके वह चित्तरंजन एवन्यू साउथ पर जा पहुँचा। वह प्रत्येक मकान को बहुत ध्यान से देखता जाता था। एक बार प्रायः प्रत्येक पर उसकी दृष्टि स्थिर हो जाती थी। थोड़ी देर में

वह एक बिल्डिंग के सामने जा खड़ा हुआ। दूसरे खंड पर एक साइनबोर्ड लगा हुआ था। उसी को वह ध्यान से देख रहा था। उसने उसके एक-एक अक्षर को ध्यान से पढ़ना शुरू किया। उसमें लिखा हुआ था—‘नेशनल पब्लिशिंग हाउस, लिमिटेड’।

‘ठीक तो है, मुझे इसी ज़ीने से ऊपर चला जाना चाहिए।’ सोचता हुआ वह ऊपर चढ़ गया। वह सीढ़ियों पर चढ़ता जाता था, और बार-बार मन-ही-मन कहता जाता था—“वैसे, समय तो बाबू साहब ने मिलने का यही बतलाया था, परन्तु क्या यह नहीं हो सकता कि उनको अपने बतलाए हुए समय का ध्यान न रहा हो। यह कोई नई बात तो है नहीं; सच पूछो, तो किसी की भी बात का कुछ ठिकाना नहीं है। और, फिर बड़े आदमियों की बातों का तो और भी! वही तो—वही तो मैं भी सोचता हूँ। फिर चाहे मेरा सोचना इस बार गलत ही क्यों न हो जाय, परन्तु मैं सोचता सदा सही बात ही हूँ। सौ में निन्यानबे बार तो ऐसा ही हुआ है।’

भीतर पहुँचने पर देखा, चिक के बाहर चपरासी बैठा हुआ है। जी को कुछ संतोष हुआ। उसके पास हो जाकर पूछा—“बाबू साहब हैं न?”

चपरासी ने सिर से पैर तक उसकी हुलिया देखकर कह दिया—“हैं तो, पर अभी ज़रूरी काम कर रहे हैं।”

‘तो फिर इसका मतलब तो यही है कि इस समय मुलाकात न होगी।’ आप-ही-आप सोचकर, निराश होकर एक किनारे जा खड़ा हुआ। हाथ में जो फ़ोलियो-फ़ुलिसकेप-साइज के कई शीट्स लिए हुए था, उन्हीं को उलटने-पुलटने लगा। एक बार पहले पेज को आदि से अंत तक पढ़ गया, और ज्यों ही दूसरे पेज को उलटने

लगा, त्यों ही भीतर की घंटी बजने से उसका ध्यान भंग हो गया। देखा, चपरासी भीतर चला गया है। फिर सोचने लगा—बाहर निकलने पर अब की बार चपरासी से खुलकर कहना ही पड़ेगा। मेरा भी जरूरी काम है, खुद बाबू ने बुलाया है। परन्तु जब चपरासी बाहर आ गया, तो फिर तुरन्त उससे ऊपर-लिखे शब्द कहने के साहस-संचय में मालूम हुआ, कुछ समय लगाना पड़ेगा। क्षण-भर तो कुछ सोचता रहा, फिर तुरन्त चपरासी के पास जा खड़ा हुआ, और बोला—“मुझे अभी-अभी बाबू से मिलना है। मैं रुक नहीं सकता।”

‘अच्छा-अच्छा, ठहरिए। मैं इत्तिला कर दूँ। आपका नाम?’ चपरासी ने कहा।

“नाम मेरा उनको याद ही न रहा होगा, इसलिये मैं खुद ही चला जाता हूँ।” उसने उत्तर दिया।

“फिर भी, पूछने का ही क़ायदा है। बिना पहले से बतलाए हुए मिलना नहीं होगा। समझ गए न? बाबू नाराज़ होते हैं।” चपरासी बोला।

“अच्छा, तो कह दो—कालीशंकर भट्टाचार्य Journalist।” उसने कह दिया। और, जब चपरासी भीतर चला गया, तो सोचने लगा—Journalist शब्द का अर्थ भला यह क्या जानेगा। परन्तु अपने को कह देना तो उचित ही था, सर्वथा उचित था। किन्तु शायद वह इस शब्द को ठीक तरह से बोल भी तो न सकेगा! राम-राम। सारा गुड़ गोबर हो गया! जब वह यह शब्द बोल ही न सकेगा, तो फिर मेरा परिचय भला वह क्या पाएँगे। और परिचय पाए बिना बुलाना असंभव है, बिल्कुल असंभव। हालाँकि नैपोलियन के इस शब्द से चिढ़ थी, परन्तु देखता हूँ, जगत् में इस शब्द का उपयोग ज़रा भी नहीं घटा है।

इसी समय चपरासी आकर बोला—“उन्होंने कहा है, कोई जगह खाली नहीं है। इस समय मिलना बेकार है।”

“परन्तु तुमने क्या उनसे जाकर कहा है—काई आदमी नौकरी के लिये आया है, आपसे मिलना चाहता है? कैसे आदमी हो तुम? मेरी इस हालत को देखकर ही तुमने बिना समझे-बूझे उनसे ऐसा कह दिया है! उनसे कहो—उन्होंने जो काम करने को दिया था, मैं उसको करके ले आया हूँ। समझ गए न? आज तुमने मुझे बड़ी देर तक रोक रक्खा। यह बात अच्छी नहीं है।”

चपरासी भीतर चला गया। कालीशंकर फिर सोचने लगा—मैंने अनेक बार यह तय किया है कि बिना तेज़ पड़े काम नहीं चल सकता। सच पूछो, तो मुझे आते-ही-आते उनसे मिलने पर जोर देना चाहिए था। व्यर्थ ही मैं इससे कहने में आकर खड़ा रहा। जब हम अपनी निश्चयात्मक शक्ति के उचित प्रयोग में शिथिलता प्रदर्शित करते हैं, सच पूछो, तो तभी सांसारिक कार्यों में समस्त व्यवधान-व्याघात उपस्थित होते हैं। स्फूर्ति की क्षीणता ही तो जीवन की सबसे बड़ी त्रुटि है।

चपरासी आकर बोला—“आपको यह बात पहले ही कह देनी चाहिए थी। बाबू मुझ पर नाराज़ हुए। खैर, जाइए। मैं कैसे जान सकता था कि आप भी एक बड़े आदमी हैं—नौकरी के लिये नहीं आए हैं।”

“आइए, बैठिए। आजकल आप बहुत अस्वस्थ दिखाई पड़ रहे हैं। क्या बात है? जान पड़ता है, ज्वर अभी तक छूटा नहीं है। चपरासी अभी नया ही आया है, भूल से उसने आपको रोक लिया। उसका कुछ खयाल न कीजिएगा।” मैनेजर ने कहा।

हाँ, आपका सोचना बिल्कुल ठीक है। इस ज्वर ने सचमुच मुझे मृतप्राय कर रखवा है (हालाँकि ज्वर एक दिन भी नहीं आया है, पर किया क्या जाय, समर्थन तो करना ही पड़ेगा), परन्तु फिर भी काम तो करना ही पड़ता है। नहीं तो आप जानते ही हैं, हम लोगों का निर्वाह नहीं हो सकता। निबंध पूरा कर लाया हूँ। अबकी बार परिश्रम अधिक पड़ा है। साधारणतया जो कुछ लिख देता हूँ, आप उसे पसंद नहीं करते। इस प्रकार जो कुछ भी काम होता है, वह व्यर्थ जाता है। ”

“आपका काम और भी अच्छा हो सकता है, यदि आप थोड़ा भी मनोयोग और बढ़ा सकें। परन्तु, जान पड़ता है, जब कभी आपके हाथ में कलम होती है, तब आप बहुत जल्दी में होते हैं। आपके भाव बड़े ही हृदयद्रावक होते हैं, परन्तु उनको प्रकट करने के लिये आपका जैसे ओजस्वी और श्लिष्ट शब्द-संचय के साहाय्य की आवश्यकता है, वैसा सुयोग या तो आप पाते नहीं, या उसके लिये प्रयत्नशील नहीं रहते। ”

कालीशंकर मैनेजर के मुख पर के भाव देख रहा था ! बात कहते हुए मुख की आकृति में क्या गति उत्पन्न होती है, काली उसी पर दृष्टि लगाए हुए था। मैनेजर क्या कह रहे हैं, और उसका उसे क्या उत्तर देना चाहिए, इस पर उसका ध्यान न था। जब मैनेजर अपना कथन समाप्त कर चुका, तब काली सोचने लगा—अरे ! इन्होंने जो कुछ कहा, मैंने तो उसे ध्यान से सुना ही नहीं। अब ?

तब उसने सोचा—बात शायद मेरे लिखने के विषय में थी। अच्छा, ठीक है। उसने कहा—“एक प्रकार का ‘शब्द-जाल’-साहित्य भी आजकल चल पड़ा है। पर सुन्दर-सुन्दर शब्दों का

प्रयोग करनेवाले उन छोकरोँ की भोली में और भी कुछ रहता है, इस पर आलोचकों की दृष्टि है कि नहीं, कह नहीं सकता ।”

मैनेजर बोला—“मैं इस विषय में क्या कह सकता हूँ ।”

अब मैनेजर ने वह मैनस्क्रिप्ट कालीशंकर के हाथ से लिया । वह उसके पन्ने उलट-उलटकर उसे यत्रतत्र देखने लगा ।

काली सोचने लगा—रुपए आज शायद मिलेंगे नहीं; अभी जब काम देखा नहीं गया है, तब कैसे मिलेंगे भला ! कहीं शायद थोड़ा-बहुत बदलने या बढ़ाने को कहा जायगा । उसे जब मैं करके दे दूँगा, तभी रुपए मिलेंगे । यही ठीक भी है । सदा ऐसा ही होता आया है । परन्तु—परन्तु—(उसे खयाल आ गया) मालिक मकान का किराया जो दो महीने का चढ़ गया है, उसके लिये क्या होगा । शायद एडवांस-रूप में कुछ रुपए मिल जायँगे, इसी भरोसे पर तो उसे दो-चार दिन ठहर जाने को कहा गया था । और उस होटलवाले को भी तो देना है ।

मैनेजर ने मैनस्क्रिप्ट देखते हुए, उसके पृष्ठ उलटते हुए कहा—“सचमुच अब की बार आपने इसमें मेहनत की है । स्टाइल भी जैसा मैं चाहता था, आपने बदलने की चेष्टा की है । (कुछ ठहरकर) परन्तु... (और भी कुछ ठहरकर) अच्छा, खैर, ठीक है । हाँ, आपको इस वक्त कुछ रुपया देना चाहिए, यही सोच रहा था । परन्तु कैश रुपया तो इस समय तैयार नहीं है, चेक दिए देता हूँ । ऑर्डर चेक देने में आपको शायद कैश कराने में कठिनाई हो, इसलिये बेयरर चेक ही दिए देता हूँ ।”

वह चेक-बुक निकालकर लिखने लगे, फिर बोले—“परन्तु इसे कहीं भूल न जाइगा, यद्यपि आपको यह सूचित करने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु फिर भी आप भुलक्कड़ जीव हैं, इसी लिये एहतियातन कह देना पड़ा । माफ़ कीजिएगा इसके लिये ।”

मैनेजर ने पंद्रह रुपए का एक बेयरर चेक कालीशंकर को दे दिया।

कालीशंकर ने उत्तर में धन्यवाद दिया, और उठकर नमस्कार किया। उसने चलते समय यह भी कहना चाहा कि अब अगला निबंध दस दिन में लिखकर लाऊँगा, परंतु फिर वह सोचने लगा—उहँ, इसके बतलाने की क्या आवश्यकता है, यह तो व्यर्थ की बात है।

सीढ़ियों से उतरकर वह फिर अपने निवास की ओर चल पड़ा।

आज रविवार था, और कालीशंकर को निराहार रहते हुए तीसरा दिन।

पहले दिन वह दो पैसे की मूँगकली चबाकर रह गया था। दिन-भर वह पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं के पन्ने उलटता रहा। कभी कुछ लिखता, कभी फिर पढ़ने लगता। कभी-कभी वह लेट भी जाता, और लेटे-लेटे कुछ सोचता रहता, कुछ पढ़ता रहता। पहले दिन भूख के मारे उसका सिर दर्द करता रहा। रात को वह आराम से सोया। दूसरे दिन सबेरे जब वह उठा, तो उसे कुछ कमजोरी का अनुभव हुआ, और बस। वह दिन-भर काम में लगा रहा। आज उसके पास एक पैसा तक न था। होटल में वह हफ्तेवार पेमेंट किया करता था। इस बार दूसरा सप्ताह लगने पर मैनेजर ने उससे जब चार्ज माँगा, तो उसने वचन दिया कि रुपया न मिलने के कारण वह कठिनाई में पड़ गया है। अस्तु। इस बार वह अगले सोमवार को दोनों सप्ताहों का चार्ज इकट्ठा देगा। परंतु अगले सोमवार को रुपया तो तब मिलता, जब वह अपना काम पूरा कर देता। और, वह तब तक उस निबंध को ही पूरा

नहीं कर सका था, जिससे उसे रुपया मिलना था। आज सबेरे जैसे ही वह कुछ लिखने बैठा था कि होटल का नौकर आ पहुँचा। बोला—“बाबूजी ने रुपया माँगा है। आप सोमवार को देने को कह गए थे। तब से न आप आए, न रुपया दे गए। कम-से-कम आपके आना तो चाहिए था।”

कालीशंकर मन-ही-मन कह रहा था—“कहता तो ठीक है। जाना तो चाहिए था, जरूर जाना चाहिए था। न जाने से ही मैनेजर ने समझ लिया है, कहीं मैं भाग न गया होऊँ। और, इसीलिये इसे भेजा है।” उसने कहा—“बात यह हुई कि न मेरा काम ही पूरा हुआ, न रुपया मिल सका। अब उसी को पूरा कर रहा हूँ। आप देख तो रहे हैं, मैं लिख रहा हूँ। अब अगले सोमवार को रुपया दे जाऊँगा, जरूर। उनसे कह देना।”

“तब, बाबू, होटल में खाना क्यों बंद कर दिया? रुपया तो मिल ही जायगा।” उस नौकर ने कहा।

“नहीं, ऐसा कैसे कर सकता हूँ। पहले पिछला रुपया दे दूँ, तब आगे का रुपया चढ़ाऊँ। यद्यपि मैं यह जानता हूँ कि मैनेजर साहब सज्जन-प्रकृति के पुरुष हैं, फिर भी मुझे इस बात की शर्म तो लगती ही है कि दूसरे सोमवार को भी वादे के अनुसार उनको रुपया नहीं दे सका। अब जब तक रुपया न ले चलूँ, तब तक उनके सामने जाऊँ कैसे, उनसे दो बात कैसे करूँ! बस, यही, इतनी-सी बात है। यही बात आप उनसे कह सकते हैं!”

नौकर—“अच्छा बाबू, चलता हूँ।” कह कर चला गया।

कालीशंकर फिर सोचने लगा। आज वह रुपए के मूल्य और महत्त्व पर बड़ी देर तक विचार करता रहा। अंत में उसे अपने

निबंध के विषय का ध्यान आ गया, और तब वह उसी के लिखने में लग गया ।

आज सायंकाल उसके यहाँ उसका एक पुराना मित्र भी आया । आते ही वह बोला—“हलो मिस्टर भट्टाचार्य, बाद मुद्दत के आज तुमसे भेंट हुई । अब तो तुम लेखक हो गए हो, तुम्हारी लिखी हुई अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं । लेकिन देखता हूँ, Financial condition तो...। खैर...।”

वह जेब में काजू-किशमिश भरे हुए था । एक कागज़ पर मुट्ठी-भर रखकर बोला—“लो, खाओ यार । तुम तो अब बहुत गंभीर हो गए हो । और कहो, क्या हाल-चाल है ?”

वह एक बैंक में एकाउंटेंट था । नाइंथ क्लास में वह काली का सहपाठी रहा था । उस समय वह अपने क्लास में ही नहीं, स्कूल-भर में एक ज़बरदस्त खिलाड़ी और मसखरा था । काली को बहुत बनाया करता था ।

काली एकाएक उसे देखकर सोचने लगा—आज यह मित्र कितने दिनों बाद मिला, और मैं इस योग्य भी नहीं हूँ कि इसका कुछ स्वागत-सत्कार कर सकूँ । मेरा यह जीवन भी कोई जीवन है ! इससे तो मृत्यु बहुत अच्छी है । कैसी मृदुल, कैसी प्राणमयी ! मैं अब...

त्रिलोचन बाबू तब तक बोल उठे—“अरे ! तुम इसका सत्कार नहीं कर रहे हो ! क्या बात है ? कुछ तो बतलाओ मिस्टर भट्टाचार्य ।”

कालीशंकर का हृदय हाहाकार कर रहा था । उसकी दुर्दशा विद्रोह की अग्नि सुलगा रही थी । उसने कहा—“कई दिन से तबियत ठीक नहीं है । इसीलिये...।”

“तब ठीक है। तब यही ठीक है कि तुम संयम से रहो। और कहो, आजकल तुम्हारी विचार-धारा किधर बहा करती है?”

“विचार-धारा—विचार-धारा ! विचार-धारा आप जानना चाहते हैं? आप इस मुहल्ले में आज शायद पहली ही बार आए हैं।”

“नहीं, और भी अनेक बार आ चुका हूँ।”

“उस नुक्कड़ के हलवाई के यहाँ भीतर बैठकर आपने कभी मिठाई या पूड़ी खाई है?”

“खाई है।”

“उसके सामने जो मकान देख पड़ता है, उस पर भी कभी आपकी दृष्टि गई है?”

“नहीं।”

“उसमें एक परी रहती है। नाम है—सोना।”

“Go on”

“एक ही हसीन है वह। देखोगे, तो अपने को स्वप्न-जगत् में पाओगे।”

“क्या उससे तुम्हारा परिचय है?”

“हाँ, है तो।”

“तो ले न चलो आज मुझे भी उस स्वप्न-लोक में। लेकिन यार, एक तो तुम्हारी तबियत ठीक नहीं है, दूसरे तुम्हारी वेश-भूषा ! अच्छा, कुछ परवा नहीं। आज मेरे पास काफ़ी रुपया है। चलो, उठो, तुमको अभी कपड़े खरीद दें। बस, अभी चलो।”

त्रिलोचन ने अब काली का हाथ पकड़ कर उठाना शुरू कर दिया। काली उठा—एक पुराना चदरा ओढ़कर। उसने द्वार बंद

किया, और वह चल खड़ा हुआ। उसका उर तीव्र गति से स्पंदन कर रहा था। वह सोना की बात कहते तो कह गया, पर अब पछता रहा था। भीतर से वह नहीं चाहता था कि त्रिलोचन से उसका परिचय हो, ऐसा उसे जान पड़ा। सोना से उसका कोई संबंध न था। बात बस इतनी ही थी कि जब वह उधर से निकलता, तो एक बार उसे देख-भर लेता था। उसके सौंदर्य की झलक-मात्र उसे उत्साहित-सा कर देती थी। सोना भी उसकी ओर कभी देखती थी या नहीं, इस पर उसने कभी विचार नहीं किया था।

त्रिलोचन जैसे काली को साथ लिए हुए चौराहे पर पहुँचा, वैसे ही उसे एक रेस्टारेंट देख पड़ा। उसने कहा—“चलो यार, पहले ज़रा चाय पी लें।”

काली कुछ न बोला। केवल उसके साथ-ही साथ वह भी उसी ओर मुड़ गया। त्रिलोचन ने वहाँ भट से आसन ग्रहण कर दो सेट टी-टोस्ट भेजने का आदेश किया। टी-टोस्ट काली के सामने रखवाया, और एक खुद दाँत से काटकर बोला—“कहो, तो तुमको केक भी मँगवा दूँ। खाओगे न? देखो, संकोच न करना। आज कितने दिनों बाद तुम्हारा साथ हुआ है। पर यार, तुम बालते कम हो, यही तुममें ऐब है। बोलो, आखिर अब सोच क्या रहे हो?”

काली बोला—“बात यह है कि मैं सोच रहा हूँ, मुझे ऐसा खयाल आता है कि सोना ने मकान बदल दिया है। इधर कई दिन से वह देख नहीं पड़ी।...आपको मैंने व्यर्थ ही कष्ट दिया।”

त्रिलोचन पर जैसे एक नशा सा सवार हो गया हो। क्रोध से वह अग्निमय हो उठा। आँखें चढ़ाकर, भौंहें तानकर बोला—“बस, यही तो बात है। बात क्या है, कमीनी हरकत है, जिसके

कारण लेखक लोगों की यह दशा है। वे कहते कुछ हैं और उनकी स्मरण-शक्ति कहीं रहनी है। मुझे फिज़ूल ही आपने इतना परेशान किया। बस, आप तशरीफ़ का टोकरा यहाँ से उठा ले जाइए, मैं बाज़ आया ऐसी दोस्ती से।”

काली ने चाय का एक ही घूँट अभी पिया था। मक्खन चुपड़ हुआ टोस्ट अभी उसने उठाया तक न था कि त्रिलोचन का तृतीय लोचन ही जैसे खुल गया हो। उसी समय अपनी बुभुक्षा की तीव्रता पर ध्यान न देकर काली सोचने लगा—एक त्रिलोचन ने मदन-दहन के लिये तृतीय नेत्र खोला था, और यह दूसरा त्रिलोचन ? यह उसकी प्रवृत्ति के उन्माद में ऐसा आचरण कर रहा है !

वह भीतर से बड़ा प्रसन्न था। उसका हृदय इतना प्रफुल्लित था कि उसके पैर अपने आप ही उठ खड़े हुए। त्रिलोचन के साथ चलते हुए उसे अच्छा नहीं लगा था। वह सोचता था—तो क्या मैं इस घृणित दलाली के द्वारा अपनी दुर्दशा को सँभालने की चेष्टा कर रहा हूँ ! क्या सचमुच मैं ऐसा ही हूँ !!

वह वैसे ही उठकर चल खड़ा हुआ। वह कुछ बोला नहीं, उससे कुछ भी कहते न बना। धीरे-धीरे वह अपने निवास की ओर चल पड़ा। वह चलता जाता था, और सोचता जाता था—ये सब लोग, जो विलासी हैं, भ्रष्ट हैं, पतित हैं, दुष्ट हैं, ये सब हमारी दया के पात्र हैं। इन पर हम बिगड़ें क्यों, इनके कहने का हम बुरा क्यों मानें ? अपनी-अपनी नेचर की कमजोरियाँ हैं और कमजोरियाँ किसमें नहीं होती ? सच पूछो, तो मनुष्य की उत्पत्ति भी एक प्रकार की कमजोरी से ही होती है (वह हँसने लगा—हँहँ), परंतु उसे हम कमजोरी क्यों कहें—वह तो जीवन का एक उन्माद होता है। परंतु मनुष्य की अन्य कमजोरियाँ भी तो उसके जीवनगत उन्माद से संलग्न रहती हैं !

सोचते-सोचते काली उसी नुक्कड़ की ओर पहुँच गया, जहाँ उस हलवाई की दूकान थी, और जिसके निकट सोना रहा करती थी। उसे ज्ञान नहीं था कि वह किधर जा रहा है। वह देखता सब कुछ था, पर उसकी दृष्टि में चेतना अनुपस्थित रहती थी। वह ज्यों ही सोना के मकान के निकट पहुँचा, त्यों ही चकित-स्तंभित हो उठा—“अरे ! मैं यहाँ कैसे आ गया !” एकाएक उसके मुँह से निकल गया।

और, संयोग की बात, सोना उस समय किवाड़ों की ओट में था। उसने काली की इस बात को सुन लिया। वह खिलखिजाकर हँस पड़ी। बोली—“आ जाने के बाद फिर इसी तरह कहा जाता है।”

उसी काली ने—जो तीन दिन का भूखा था, जिसके पेट की अँतड़ियाँ सिकुड़ रही थीं, जिसकी मांसपेशियाँ शिथिल पड़ी हुई थीं—जब सामने सोना को इस तरह, हँसी-हँसी में, फूलों के दल-से विखेरते हुए देखा, तो उसमें एक जीवनी शक्ति-सी आ गई। वह बोला—“क्या बात है ? आखिर किस बात पर आप इस तरह हँस रही हैं ? क्या आप मुझे जानती हैं ?”

“जानती हूँ।” उसने कहा—“आज से नहीं, बहुत दिनों से। अक्सर आप इसी रास्ते से निकलते हुए मुझे देख-देखकर आगे बढ़ जाते थे।”

“तो फिर इससे क्या हुआ ? आपको यह भी मालूम है कि मैं क्या करता हूँ, किस तरह अपना निर्वाह करता हूँ, और कितना गरीब हूँ ?”

“आपको देखकर जिसे आपकी गरीबी न देख पड़े,

वह भी क्या आँख रखने और उनसे देखने का दावा कर सकता है ?”

“ तो फिर आपने इस नाचीज़ की ओर देखने की तकलीफ क्यों गवारा की ?”

“ इसका जवाब देना बड़ा कठिन है बाबू । तुम जानते नहीं, तुमने जानने की कभी ज़रूरत भी शायद न समझी हो, लेकिन कोई किसी को क्यों देखा करता है, ठीक-ठीक कह सकना आसान नहीं है । तुम मुझे नहीं जानते, लेकिन मैं तुम्हें जानती हूँ । इसी रास्ते से मैंने तुमको अनेक रूपों में आते-जाते देखा है । मैंने देखा है, तुम कॉलेज के एक विद्यार्थी हो, लकड़-कोट-पैट पहने हो, और एक हॉकी-स्टिक तुम्हारे हाथ में है । दोस्तों के साथ हँसते-हँसाते जा रहे हो । मैंने देखा है, तुम्हारी साइकिल की घंटी टनन-टनन बज रही है, सामने एक बुढ़िया पड़ गई है, वह जल्दी में एक ओर न हो सकी, तुमने तुरंत साइकिल के दोनो ब्रेक कस दिए, और उसको तो संभलकर बचा लिया, परंतु स्वयं गिर पड़े, और तुम्हारा पैट और कोट कीचड़ से सन गया ! मैंने देखा है, तुम एक दोस्त की मोटर पर बैठे हुए सर्ग से निकल गए, और आजकल देखतो हूँ कि तुम एक पागल की तरह बहुत ही धीरे-धीरे इधर से निकलते रहते हो । किसी से कभी बोलते नहीं । कुछ कहते नहीं । अपने में ही एक संसार बनाए रहते हो, जैसे इस दुनिया में एक तुम्हीं हो, और कोई कहीं है ही नहीं । मैं तुमको किसी स्वार्थ से देखती थी, तुम शायद यही खयाल करते हो । तुम्हारे इस खयाल को मैं बुरा नहीं कहती, लेकिन देखना क्या हमेशा स्वार्थ से ही होता है ? क्या बिना मतलब के कोई किसी को कभी देखता ही नहीं । यही अगर मैं तुमसे पूछूँ कि तुम्हीं मुझे क्यों देखते थे, तो तुम इसका क्या जवाब दोगे ?”

काली बोल उठा—“यह बात तो तुम ठीक ही कहती हो। मैं कुछ सोचता हूँ, परन्तु कुछ भी सोच नहीं पाता। मेरी तबियत अच्छी नहीं है। असल में तीन दिन से मैंने कुछ खाना नहीं खाया है। होटल में खाना खाता रहता था। इधर उसका कुछ रुपया देना हो गया। इसलिए और आगे कर्ज बढ़ाना मैंने उचित नहीं समझा। यह बात मैंने किसी से कही नहीं, लेकिन तुमसे कह रहा हूँ। मेरा पेशा लिखना है, अपनी भाषा में जिसे लेखक कहते हैं, पुस्तकें और मासिक पत्रों में लेख लिखना मेरा काम है। यही मेरी जीविका है। कल एक चेक मिला था। आज रविवार के कारण भुन नहीं सका। कल भुन सकेगा।”

थोड़ी बातचीत दरवाजे पर ही हो गई थी, बाक़ी भीतर हुई। सोना ने कहा—“खाना एक महाराजिन ही बनाती हैं। आपके लिए चावल, दाल, शाक और मछली बनवाती हूँ।”

काली बोल उठा—“हाँ, तुम तो जैसे पहले से ही सब कुछ जानती हो, तुमको मैं और क्या बतलाऊँ।”

काली के लिए यह नई दुनियाँ थी। माता-पिता के स्वर्गवास के पश्चात् जब से वह अनियमित जीवन में पड़ा, तब से इस तरह के जीवन का संयोग वह कभी पा नहीं सका था। आज इस लालसा-लहरी ने उसके जीवन क्रम को एक आरगी जैसे लहरा दिया।

सोमवार को प्रातःकाल जब काली उठा, तो उसे ऐसा जान पड़ा, जैसे कल जो कुछ हुआ, वह एक स्वप्न था। परसों से वह अपने जीवन-क्रम का एक बार सिंहावलोकन कर गया। चलित चित्र की भाँति सारी घटनाएँ उसकी कल्पना-दृष्टि के सामने से निकल गईं। अपनी इच्छा-शक्ति को बारबार विवेक की तुला

पर तौल रहा था, पर घटनाओं के क्रम से उसका निश्चय एक दम अस्त-व्यस्त हो जाता था। वह अपनी समझ से बहुत सबेरे उठा था, तो भी उस समय आठ बज गये थे। तुरन्त उठकर उसने अपना कमरा साफ़ किया। पुस्तकों पर धूल जम गई थी। सभी कागज़-पत्र सँभाल कर रक्खे। टेबिल और कुर्सी को कपड़े से पोंछकर उन्हें साफ़ किया। इतने में नौ बज गये।

फिर हजामत बनाकर वह पाइप के नीचे नहाने बैठ गया। साबुन की टिकी का थोड़ा-सा शेष भाग बच रहा था, उसी को लगाकर उसने खूब मलकर स्नान किया। फिर कपड़े बदल कर चेक कैश कराने के लिए बैंक चल दिया।

ग्यारह बजे के पश्चात् चौदह रुपये और पूरे सोलह आने पैसे लेकर वह बैंक से आया। एक रेस्तराँ में नकद तीन आने देकर उसने चाय और टोस्ट ग्रहण किया। रास्ते भर वह दो विषयों पर मुख्य रूप से विचार करता रहा। एक तो यह कि आज से वह नियमित रूप से अपने निबंध लिखने के काम में लग जायगा, और दूसरे यह कि वह सोना से किस प्रकार का सम्बन्ध रक्खेगा। निबंध लिखने का काम ऐसा है, जिसको वह आज से प्रारंभ कर ही देगा, परन्तु सोना से सम्बन्ध वह कैसा रक्खेगा, यही वह निश्चय करना चाहता है, पर कर नहीं पाता। वह सोचता है, कल उसने स्वयं ही उसके यहाँ भोजन करने का प्रस्ताव क्यों किया? सोना उसकी कौन है? वह उसकी कोई नहीं है, तो उसके इतने सुदूरवर्ती अतीत का ज्ञान वह क्यों रखती आ रही है।

परन्तु वह तो नर्तकी है।

तो क्या हुआ? प्रश्न यह है कि जीवन में और मानवता में वह कितनी आगे है और कितनी पीछे। प्रश्न यह है कि आचार

तत्व की गतिविधि में मैंने उसको किस स्थान पर पाया है, और प्रश्न यह है कि क्या उससे मुझे इस एक ही दिन में कुछ भी नहीं मिला है ?

साढ़े ग्यारह बज गये हैं । काली अपने साफ़ सुथरे कमरे में बैठा हुआ यही सब सोच रहा है । टेबिल पर चौदह रुपये तेरह आने पड़े हुए हैं ।

इसी समय पड़ोस का एक आदमी आकर उसके सामने खड़ा हो गया । अतीत जीवन में उसका पिता काली के यहाँ नौकरी कर चुका था । काली उसे देखते ही पहचान गया । बोला—“कहो बाबूराम, आज कैसे तकलीफ़ की ?”

बाबू राम बोला—“सरकार, वह म गई । तीन महीने से उसकी दवा करा रहा था । उसके पीछे प्रेस में नौकरी छोड़ी, घर में जो कुछ भी ज़ेवर और गृहस्थी की मूल्यवान चीज़ें थीं, उन्हें बेच बेच कर सब कुछ उसकी दवा में लगा दिया । अब फूटी कौड़ी भी नहीं रह गई, और ऐसे समय में वह अभी-अभी चल बसी । रोजी लगेगी तो पाई पाई दे दूँगा । इस समय उसका अग्नि-संस्कार करने भर के लिए कुछ रुपये दे देते, तो मैं जी जाता । क़फ़न तक के लिए मेरे पास पैसे नहीं हैं । सरकार के यहाँ के टुकड़े खाकर ही मेरा पालन-पोषण हुआ है । ऐसे समय मेरी सुनने वाला कोई और दूसरा नहीं है ।”

इतना कह कर ‘उहूँ-उहूँ’ करके बाबूराम रो पड़ा ।

और तुरन्त काली ने वे चौदह रुपये तेरह आने उसे दे दिए ।

बाबूराम जब चला गया, तो काली सोचने लगा—निबंध लेखन का कार्य अब शुरू कर देना चाहिए ।...परन्तु भूख भी तो लग आई है ।

अब काली को अपनी परिस्थिति की भीषणता का बोध हुआ ।
अरे ! मैंने यह भी न सोचा कि उनमें से दो रुपये ही अपने लिए
रख लूँ !!

अब !!



किन्तु इसी समय एक लड़के ने आकर कहा—“ आप कहाँ
गये थे अभी ? कई बार मैं आपको बुलाने आया, पर आप देख
नहीं पड़े । चलिए, अब देर न कीजिए, ग्वाना ठंडा हो रहा है ।
‘ सरकार ’ ने आपके पीछे अभी तक भोजन नहीं किया । ”

लिफाफे की बात

[आत्मगोपन के रहस्योद्घाटन एवं मनोविश्लेषण की एक कथा]

माफ़ कीजियेगा, सच्ची बात कहना आज के युग में पाप नहीं रह गया। इसीलिए मैंने आपको सचेत कर दिया है। आशा है, आप बुरा न मानेंगे।”

महेन्द्र इतना कह कर दरवाजे के बाहर हो गया। विष्णु ने एक बार सोचा, मजाक़ बुरा नहीं है और तब हास्य की एक रेखा भी उसके होठों पर आ गई। कुरसी से उठ कर अब वह बाहर आ गया और उसने देखा, साइकिल उठाकर ब्रह्मा चल दिया है। इसी समय घीसू आकर फर्श पर से चाय की ट्रे उठाने लगा, तो किसी एक प्लेट का बोल उसके कानों में जा पड़ा। फिर सड़क पर अख़बार वाला साइकिल से जाता दिखाई दिया। फिर इक्केवाले का स्वर—‘ल ल ल ल ल S S’ आया, जिससे सुनकर विष्णु जैसे आप ही हँस दिया। अब वह फिर कमरे में आकर डब्बे में से सौंफ़ और सुपारी की डली निकालने लगा। घीसू फिर आया और कोने में पड़ा उनका जूता साफ़ करने लगा। विष्णु ने अलमारी खोली।

किन्तु इसी क्षण रेणु आ गई, चुपचाप। यकायक जो दृष्टि घूम पड़ी, तो बोल उठा—ओ: तुम हो। और साथ ही एक पुस्तक भट से निकाल कर इलमारी बन्द कर दी।

‘नमस्ते’ करती हुई रेणु ज़रा मुस्करायी और बोली—दिदिया कहती हैं, अगर मेरी कविता आज भी ठीक न की तो अनर्थ हो जायगा।

यहाँ रेणु की स्थिति कुछ रहस्यमयी है। कविता वास्तव में वेणु की न होकर इस रेणु की ही है। केवल भेद छिपाने के लिए उसने यह आत्मगोपन का ढंग स्वीकार किया है।

विष्णु बात की बात में बहुत गम्भीर हो गया। बोला—अच्छा तो है। जब उनकी कविता में मुझे कोई अर्थ नहीं देख पड़ता, तब अगर वह अनर्थकारिणी ही सिद्ध हो जाय तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं हो सकती।

वह पुस्तक का पहला पृष्ठ खोलने लगा।

‘जीऽ’ कहकर रेणु ने कुछ ऐसा मुँह बनाया कि विष्णु उसकी भंगिमा देखता रह गया।

रेणु अभी खड़ी ही थी, विष्णु ने यह नहीं कहा कि बैठो। तब वह बोली—जाती हूँ। आप तो इस समय रेमनसेंडर के फेर में हैं।

वह जाने लगी, तो विष्णु ने कहा—अच्छा, तो तुम जा रही हो। ज़रा ठहरो, अपनी दिदिया की कविता लेती जाओ।

तब मेज़ के ड्रायर से एक बन्द लिकाफा निकालकर विष्णु ने रेणु को दे दिया। रेणु ने इस क्षण एक बार विष्णु की ओर अच्छी तरह देखा। फिर पूछा—देख सकती हूँ इसको ?

विष्णु ने क्षणिक गम्भीरता से उत्तर दिया—नहीं।

रेणु का चेहरा उतर गया। विष्णु ने एक क्षण रुककर उसके अरुण हो रहे बायें कपोल पर, तीन अँगुलियों से मुलायम चपत जमाते हुए कहा—पगली, इस तरह की बातें भी कभी पूछी जाती हैं ?

रेणु कुछ पीछे हट गई। कुछ अप्रतिभ होने का भाव दिखलाती हुई बोली—जाइये, आप तो मुझे मारते हैं।

किन्तु फिर क्षण भर बाद वह कुछ सम्हली, ज़रा-सा मुस्कराई और गम्भीर होकर बोली—अब मैं आपके यहाँ कभी नहीं आऊँगी ।

विष्णु ने इसी समय लिफाफा उसके हाथ से छीन लिया, एक ओर से उसे चीरकर उसमें से एक कागज़ निकालते हुए सामने कर दिया और कहा—देख लो, कविता ही शुद्ध कर दी है । अन्दर कोई चिट्ठी-विट्ठी नहीं है ।

बात की बात में रेणु सन्न रह गई ।

इसी क्षण घीसू आ गया और बोला—साढ़े नौ बज गया सरकार ।

विष्णु ने उसकी ओर तीव्र दृष्टि से देखते हुए कुछ क्रुद्ध होकर कह दिया—सुन लिया ।

रेणु सोफ़ा पर बैठकर उसमें जैसे धँस गई, यहाँ तक कि उसका मुलायम शिरोभाग उसकी वेणी से जा लगा ।

विष्णु ने कहा—चलो खाना खा लो । या कहो तो यहीं मँगवा लूँ ।

रेणु बोली—नहीं । अब मैं चलूँगी । दिदिया प्रतीक्षा में होंगी ।

“ यह भी कोई कारण हुआ । जैसे प्रतीक्षा को उन्होंने खरीद लिया हो । कह देना—अब कभी मेरे पास कोई कविता-अविता शुद्ध करने के लिए न भेजें । मैं ऐसे भ्रंश में नहीं पड़ता । ”

“ आप कहते क्या हैं ? ”

“तुम देखती हो रेणु, कितनी पुस्तकें होंगी ये सब ?”

“यही दो हजार के लगभग ।”

“मुझे बना रही हो ! खैर, दो हजार न सही, लेकिन दो सौ तो हैं ही ऐसी, जिन्हें मुझे इन्हीं तीन महीनों में चाट डालना है। इतना अवकाश कहाँ है कि कविता लिखने या शुद्ध करने बैठूँ। अगला कविता-संग्रह मैंने प्रकाशित होने से रोक रक्खा है। थीसिस पूरा कर लूँ तब कुछ और सोचूँ। तबियत उचट भी रही है। दुनियाँ को आज कवि की कर्तई ज़रूरत नहीं रह गई। कभी सोचा है कि पिछले दो वर्षों में कला और साहित्य के उपकरणों, आगारों और पुजारियों का कितना संहार हुआ है। कभी सोचा है कि रक्त की प्यासी लपलपाती युद्ध-जिह्वा अभी और क्या-क्या चाटने के लिए तैयार है ? और तमाशा यह है कि युद्ध-रत देशों की जनता भविष्य में खायेगी क्या, यह तक अनिश्चित है।

रेणु के मन में आया कि वह कह दे कि सभ्यता के विकास के लिए युद्ध अनिवार्य है। किन्तु वह विष्णु का इतना आदर करती है कि उससे बहस नहीं करती। वह जो कुछ कहता है, उसे प्रायः सुनती ही रहती है। अस्तु, उठती हुई रेणु बोली—अब चलूँगी। आपको देर हो जायगी।

इसी क्षण विष्णु ने टेबिल का बटन दबाया और तुरन्त घासू आ गया।

विष्णु ने कहा—खाना यहीं ले आओ। और देखो, दो थालियों में लाना।

रेणु बोली—मुझे मत मँगाइये। मैं अब जा रही हूँ।

विष्णु बोला—तुम जानती हो, मैं कभी अकेले खाना नहीं खाता। यही एक प्रतिबन्ध मैंने अपने इस एकाकी जीवन पर

लगा रक्खा है। तुम अगर इतने पर भी यही चाहती हो कि मैं बिना खाना खाये यों ही यूनिवर्सिटी चला जाऊँ, तो तुम जा सकती हो।

खाना आ गया और रेणु विवश हो गई। वह कुछ सोचने लगी। क्षण भर बाद खाना खाती हुई वह बोली—मैं जब-जब यहाँ आयी हूँ, कभी ऐसा नहीं हुआ कि मेरा सारा कार्य-कम आपने चौपट न कर दिया हो।

विष्णु बोला—तभी तो मैं तुम लोगों से सदा अलग रहना चाहता हूँ। तभी मैं कभी तुम्हारे यहाँ जाता नहीं। तभी तुमको जाने से कभी रोकता नहीं। तुम लोग इतनी चतुर हो कि अपना सारा काम मुझसे निकालती हुई, कहती यही रहती हो कि मुझे बड़ी जल्दी है, बड़ी देर हो गई। यहाँ तक कि सारा प्रोग्राम ही चौपट हो गया।

रेणु खिलखिला कर हँस पड़ी।

विष्णु बोला—आइन्दा से मैं कभी तुम लोगों के चक्कर में नहीं पड़ूँगा। अच्छा, वह लिकाफा मुझे लौटा दो। कह देना—कविता शुद्ध करने की फुरसत नहीं मिली। अच्छे रहे! जैसे मैं किराये का टट्टू हूँ। लेकिन उस टट्टू को भी घास-दाना तो मिल ही जाता है। और मुझे क्या मिलता है? यही उलहना न, कि बड़ी देर कर दी? यह हो गया—वह हो गया...। तुम लोगों से खुदा बचाये।

इसी क्षण रेणु बोली—अच्छा, ईश्वर पर आपका विश्वास है?

विष्णु बोला—अच्छा, पहले यह बतलाओ कि तुम खा चुकी कि नहीं? कुछ और मँगा दूँ?

रेणु खिलखिलाती हुई बोली—पेट तो भर गया। लेकिन आप और मँगवायेंगे क्या ?

“ अच्छा, तो अब तुम जा सकती हो ।”

घीसू !

घीसू आ गया। हाथ-मुँह धोकर रेणु चलने लगी, तो विष्णु बोला—तो अब चली ही जाओगी रेणु। लेकिन ठहरो। बस, दो मिनट में तैयार होता हूँ। साथ ही चलना। तुमको बँगले पर छोड़ दूँगा। अकेली कैसे जाओगी ? अकेला मैं तुमको...

“ क्यों ? अभी जो अकेली थी ?”

वास्तव में रेणु झूठ बोल गई। वह हिरिया नौकरानी के साथ आयी थी।

“ लेकिन मैं तुमको अकेला कैसे जाने दूँगा ?”

इसी समय मकान के भीतर से निकलती हुई हिरिया दिखलाई पड़ी। अन्दर बैठी हुई वह विष्णु की माँ से बातचीत कर रही थी। उसकी ओर देखता हुआ विष्णु बोला—अरी हिरिया ?

“ हाँ, बाबू ।”

विष्णु अन्दर दूसरे कमरे में पैट पहन रहा था। कन्धों पर गेलिस चढ़ाते हुए दरवाजे के निकट आकर कहने लगा—वेणु से कह देना, माँ ने कहा है, एक दिन आकर मठरियाँ तो बना जाय। कल मुझसे कह रही थीं !

हिरिया कुछ बोली नहीं। रेणु अन्दर चली जा रही थी।

विष्णु बोला—सुनती है कि नहीं !

“ सुनती हूँ बाबू जी ।” हिरिया बोली।

विष्णु ने कहा—और माँ जी से कहना, पूछा है अपने पैरों की धूल देने वह मेरे यहाँ कब आ रही हैं ?

हिरिया बोली—कह दूँगी ।

विष्णु ने इधर-उधर देखकर सोचा—रेणु कहाँ गई । फिर पुकारा—रेणुबाला ।

रेणु ने दरवाजे के भीतर से ही कहा—आप जाइये न, आपको देर जो हो रही है । मैं फिर चली जाऊँगी । ज़रा माँ जी से बातें कर लूँ ।

विष्णु आगे बढ़ गया—ताँगा चलने लगा ।

पर इसी क्षण थोड़े फासले से उसने देखा—रेणु दरवाजे से निकल रही है ।

विष्णु ने ताँगा खड़ा करा दिया । रेणु चुपचाप जब बराबर पर आ गई, तो विष्णु बोला—जानता हूँ, नाराज़ हो । पर इस समय बैठ लो । चाहो तो मैं आगे बैठ जाऊँगा । आओ न ।

रेणु कुछ बोली नहीं । अन्यमनस्क-सी नीचे मुँह लटकाये चलती गयी ।

विष्णु ने ताँगा खड़ा करा दिया । अब वह खुद उतर पड़ा और बोला—ताँगा ले जाओ । मैं आगे पैदल ही चला जाऊँगा ।

जब विष्णु रेणु के निकट आ गया तो हव यकायक खड़ी हो गई और उत्तेजित स्वर में बोली—सड़क पर आप दंगा करेंगे ?

विष्णु अत्यन्त गम्भीर होकर बोला—

“अपमान से छुटकारा पाने के लिए कभी-कभी दंगा भी करना ही पड़ता है...। ऐसा ही था, तो तुमको इधर अपने चरणारविन्द

ले आने की क्या आवश्यकता थी ? देखती हों मैं स्वयं कितना व्यस्त रहता हूँ। मैं कहता हूँ, ताँगे पर चलो। बात चाहे एक न करना।

तब रेणु ने एक बार विष्णु को अच्छी तरह देखा फिर उस लिफाफे को उन्हें वापस करते हुए कहा—लीजिये, आप इसे वापस चाहते थे न ?

विष्णु अवाक् हो उठा। किन्तु तो भी उसने हाथ बढ़ा ही दिया।

रेणु ने एक, दो, तीन, चार, पाँच, छै—छै बार चीर-चीरकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर डाले और उन टुकड़ों को विष्णु के हाथ पर रखते हुए कहा—लीजिये।

विष्णु ने घड़ी देखी। साढ़े दस बज गया था। ठीक इसी समय उसे बी० ए० (प्रथम वर्ष) का क्लास लेना था। वह तत्काल ताँगे पर जा बैठा और बोला—जल्दी ले चलो।

ताँगेवाले के इशारे मात्र से घोड़ा पड़-पड़ शब्दों के साथ भागने लगा।

विष्णु का दायरा हाथ उस समय जेब में पड़े लिफाफे के उन टुकड़ों पर था। वह सोच रहा था—कविता का यह संशोधन तो मैंने भी नहीं सोचा था।



